रूसकी चिट्ठी

रवीन्द्रनाथका रूस-भ्रमण

मूल्य २।।।)

विजय-दशमी
१९८८

रूसकी चिट्ठी

[भ्रमण-कहानी]

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

"विशाल-भारत" पुस्तकालय
१२०।२, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता

कलकत्ता, १२०।२, अपर सर्कूलर रोड, प्रवासी-प्रेसमें श्री सजनीकान्त दास
द्वारा मुद्रित और 'विशाल-भारत' पुस्तकालयसे उन्हींके द्वारा प्रकाशित



श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रूसकी चिट्ठी

१

मास्को

आखिर रूसमें आ ही पहुंचा। जो देखता हूं, आश्चर्य होता है। अन्य किसी देशसे इसकी तुलना नहीं हो सकती। बिलकुल जड़से प्रभेद है। आदिसे अन्त तक सभी आदमियोंको इन लोगोंने समान रूपसे जगा दिया है।

हमेशासे देखा गया है कि मनुष्यकी सभ्यतामें अप्रसिद्ध लोगोंका एक ऐसा दल होता है, जिनकी संख्या तो अधिक होती है, फिर भी वे ही वाहन होते हैं; उन्हें मनुष्य बननेका अवकाश नहीं, देशकी सम्पत्तिके उच्छिष्टसे वे प्रतिपालित होते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य सबोंकी परिचर्या या गुलामी करते हैं; सबसे अधिक उन्हींका परिश्रम होता है, सबसे अधिक उन्हींका

असम्मान होता है। बात-बातपर वे भूखों मरते हैं, ऊपरवालोंकी लातें खाते हैं—जीवन-यात्राके लिए जितनी भी सुविधाएँ और मौके हैं, उन सबसे वे वंचित रहते हैं। वे सभ्यताकी दीवट हैं, सिरपर दिआ लिये खड़े रहते हैं;—ऊपरवालोंको सबको उजीता मिलता है और उन बेचारोंके ऊपरसे तेल ढलकता रहता है।

मैंने इनके बारेमें बहुत दिनोंसे बहुत सोचा है, मालूम हुआ कि इसका कोई उपाय नहीं। जब एक समूह नीचे न रहेगा, तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता, और ऊपर रहनेकी आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय, तो बिलकुल नजदीककी सीमाके बाहरका कुछ दिखाई नहीं देता;—मनुष्यत्व सिर्फ जीविका-निर्वाह करनेके लिए ही नहीं है। एकान्त जीविकाको अतिक्रम करके आगे बढ़े, तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यताकी उत्कृष्ट फसल तो अवकाशके खेतमें पैदा होती है। मनुष्यकी सभ्यतामें एक जगह अवकाशकी रक्षा करनेकी जरूरत तो है ही। इसीलिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ अवस्थाके कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मनकी गतिके कारण नीचे रहकर काम करनेको मजबूर हैं और उसी कामके योग्य हैं, जहाँ तक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधाके लिए उद्योग करना चाहिए।

मुशकिल तो यह है कि दयाके वश कोई स्थायी चीज नहीं बनाई जा सकती; बाहरसे उपकार करना चाहें तो

पद्-पद्पर उसमें विकार उत्पन्न होते रहते हैं। समान बन सकें, तभी सत्य सहायता हो सकती है। कुछ भी हो, मैं अच्छी तरह कुछ सोच नहीं सका हूं—फिर भी इस बातको मान लेनेमें कि अधिकांश मनुष्योंको नीचे रखकर, उन्हें अमानुष बनाये रखकर ही सभ्यता ऊँची रह सकती है, हमारा मन धिक्कारोंसे भर जाता है।

ज़रा सोचो तो सही, भूखे भारतके अन्नसे इंग्लैंड परिपुष्ट हुआ है। इंग्लैंडके अधिकांश लोगोंके मनका भाव यह है कि इंग्लैंडका चिरकाल पोषण करनेमें ही भारतकी सार्थकता है; इंग्लैंड बड़ा होकर मानव-समाजमें बड़ा काम कर रहा है, और इस उद्देशकी सिद्धिके लिए हमेशाके लिए एक जातिको दासतामें बाँध रखनेमें कोई बुराई नहीं; यह जाति अगर कम खाती है, कम पहनती है, तो उससे क्या बनता-बिगड़ता है; फिर भी कृपा करके उनकी अवस्थाकी कुछ उन्नति करना चाहिए, यह बात उनके मनमें बैठ गई है। परन्तु एक सौ वर्ष हो चुके, न तो शिक्षा ही मिली, न स्वास्थ्य ही मिला और न सम्पद् ही देखी।

प्रत्येक समाज अपने अंदर इसी एक ही बातका अनुभव करता है। जिस मनुष्यका मनुष्य सम्मान नहीं कर सकता, उस मनुष्यका मनुष्य उपकार करनेमें असमर्थ है। और कहीं नहीं तो, जब अपने स्वार्थपर आकर ठेस लगती है, तभी मार-काट शुरू हो जाती है। रूसमें एकदम जड़से लेकर इस

समस्याको हल करनेकी कोशिश की जा रही है। उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बातपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया, मगर फिलहाल जो कुछ आँखोंके सामनेसे गुज़र रहा है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। हमारी सम्पूर्ण समस्याओंका सबसे बड़ा रास्ता है शिक्षा। अभी तक समाजके अधिकांश लोग शिक्षाकी पूर्ण सुविधासे वंचित हैं—और भारतवर्ष तो प्रायः पूर्णतः ही वंचित है।

यहाँ—रूसमें—वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यमके साथ समाजमें सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। शिक्षाकी तौल सिर्फ संख्यासे नहीं हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णतासे—अपनी प्रबलतासे ही तौली जा सकती है। कोई भी आदमी निःसहाय और बेकार न रहने पावे, इसके लिए कैसा विराट आयोजन और कैसा विशाल उद्यम हो रहा है। केवल सफेद रूसके लिए ही नहीं—मध्य-एशियाकी अर्ध-सभ्य जातियोंमें भी ये बाढ़की तरह शिक्षा विस्तार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं;—जिससे साइन्सकी अन्तिम फसल तक उन्हें मिले, इसके लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अन्त नहीं। यहाँ थियेटरके अभिनयोंमें बड़ी जबरदस्त भीड़ होती है, मगर देखनेवाले कौन हैं—किसान और मजूर। कहीं भी इनका अपमान नहीं। इसी अरसेमें इनकी दो-एक संस्थाएँ भी देखीं, और सर्वत्र ही मैंने इनके हृदयका जागरण और आत्म-सम्मानका आनन्द पाया। हमारे देशके सर्वसाधारणकी तो

बात ही छोड़ दो—इंग्लैंडके मजूर-समाजके साथ तुलना करनेसे जमीन-असमानका फर्क नजर आता है। हम श्रीनिकेतनमें जो काम करना चाहते हैं, ये लोग देश-भरमें अच्छी तरह उस कामको पूरा कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते, तो बड़ा-भारी उपकार होता। रोज़मर्रा मैं हिन्दुस्तानके साथ यहाँकी तुलना करता हूं और सोचता हूं कि क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमेरिकन साथी डाक्टर हैरी टिम्बर्स यहाँकी स्वास्थ्य-व्यवस्थाकी चर्चा करते हैं, उनकी कार्य-पद्धति देखनेसे आँखें खुल जाती हैं;—और कहाँ पड़ा है रोग-संतप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष! कुछ पहले भारतकी अवस्थाके साथ यहाँकी साधारण जनताकी दशाकी बिलकुल समानता थी—इस छोटेसे समयमें बड़ी तेजीके साथ उसमें कैसा परिवर्तन हुआ है! और हम अभी तक जड़ताके कीचड़में ही गले तक डूबे पड़े हैं।

इसमें कोई गलती ही न हो, यह बात मैं नहीं कहता—गहरी गलती है। और वह किसी दिन इन्हें बड़े संकटमें डाल देगी। संक्षेपमें वह गलती यह है कि शिक्षा-पद्धतिको इन्होंने एक साँचा-सा बना डाला है, पर साँचेमें ढला मनुष्यत्व कभी स्थायी नहीं हो सकता——सजीव हृदय-तत्त्वके साथ यदि विद्या-तत्त्वका मेल न हो, तो या-तो किसी दिन साँचा ही टूट जायगा, या मनुष्यका हृदय ही मरकर मुर्दा बन जायगा या मशीनका पुर्जा बना रहेगा।

यहाँके विद्यार्थियोंमें विभाग बनाकर हर विभागको पृथक्-पृथक् कार्य सौंपे जाते हैं, छात्रावासकी व्यवस्था वे खुद ही करते हैं—

किसी विभागपर स्वास्थ्य-संबंधी भार है, तो किसीपर भोजनादिका। जिम्मेदारी सब उन्हींके हाथोंमें है, सिर्फ एक पथ्दिर्शक रहता है। शान्ति-निकेतनमें मैंने शुरूसे ही इस नियमको चलानेकी कोशिश की है, पर वहाँ सिर्फ नियमावली ही बनकर रह गई, कुछ काम नहीं हुआ। उसका मुख्य कारण यह है कि हमने स्वभावतः ही पाठ-विभागका लक्ष्य बनाया परीक्षा पास करना, और-सबको उपलक्ष्य मात्र समझा; यानी हो तो अच्छा, न हो तो कोई हर्ज नहीं—हमारा आलसी मन जबरदस्त जिम्मेदारीके बाहर काम बढ़ाना नहीं चाहता। इसके सिवा बचपनसे ही हम किताबें रटनेके आदी हो गये हैं। नियमावली बनानेसे कोई लाभ नहीं; नियामकोंके लिए जो आन्तरिक विषय नहीं, वह उपेक्षित बिना हुए रह ही नहीं सकता। गाँवोंकी सेवा और शिक्षा-पद्धतिके विषयमें मैंने जो-जो बातें अब तक सोची हैं, यहाँ उसके अलावा और कुछ नहीं है, है केवल शक्ति, है केवल उद्यम और कार्यकर्ताओंकी व्यवस्था-बुद्धि। मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत-कुछ शारीरिक बलपर ही निर्भर है—मलेरियासे जर्जरित अपरिपुष्ट शरीरको लेकर पूरी तेजीसे काम करना असम्भव है—यहाँ इस जाड़ेके देशमें लोगोंकी हड्डी मजबूत होनेसे ही कार्य इतनी आसानीसे आगे बढ़ रहा है—सिर गिनकर हमारे देशके कार्यकर्ताओंकी संख्याका निर्णय करना ठीक नहीं—उनमें से प्रत्येकको एक-एक आदमी समझना भूल है।

२० सितम्बर, १९३०

२

मास्को

स्थान रूस। दृश्य, मास्कोकी उपनगरीका एक प्रासादभवन। जंगलेमें से देख रहा हूं—दिगन्त तक फैली हुई अरण्यभूमि, सब्ज रंगकी लहरें उठ रही हैं, कहीं स्याह सब्ज, कहीं फीका बैंगनी-मिलमा सब्ज, कहीं पीलिया सब्ज—हिलोरें-सी नजर आ रही हैं। वनकी सीमापर बहुत दूर गाँवकी झोपड़ियाँ चमक रही हैं। दिनके करीब दस बजे हैं, आकाशमें बादलपर बादल धीमी चालसे चले जा रहे हैं, बिना वर्षाका समारोह है, हवासे सीधे खड़े पॉपलर-वृक्षोंकी चोटियाँ नशेमें झूम-सी रही हैं।

मास्कोमें कई दिन तक जिस होटलमें था, उसका नाम है ग्रैन्ड-होटल। बड़ी-भारी इमारत है, पर हालत अत्यन्त दरिद्र; मानो धनाढ्यका लड़का देवालिया हो गया हो। पुराने जमानेका असबाब है—कुछ बिक चुका है, कुछ फट-टट गया है, जोड़ने और थेगरा लगाने-लायक सामर्थ्य नहीं; मैले-कुचैले कपड़े हैं, धोबीसे सम्बन्ध नहीं। सारे शहर-भरकी यही हालत है—

अत्यन्त अपरिच्छिन्नताके भीतरसे भी नवाबी जमानेका चेहरा दिखाई दे रहा है—जैसे फटे कुड़तेमें सोनेके बटन लगे हों, जैसे ढाकेकी धोतीमें रफू दूरसे चमक रहा हो। आहार-व्यवहारमें ऐसी सर्वव्यापी निर्धनता यूरोपमें और कहीं भी देखनेमें नहीं आती। इसका मुख्य कारण यह है कि और-सब जगह धनी दरिद्रका भेद होनेसे धनका पुंजीभूत रूप सबसे ज्यादा बड़ा होकर निगाहके सामने पड़ता है—वहाँ दरिद्र रहता है यवनिकाके पीछे नेपथ्यमें, जहाँका सब-कुछ बेसिलसिलेका, बिखरा हुआ, गन्दा, अस्वास्थ्यकर है, जहाँ दुर्दशा और बेकारीके घोर अन्धकारके सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। परन्तु बाहरसे आये हुए हम जहाँ आकर टिकते हैं, वहाँके बंगलेसे जो-कुछ देखते हैं, हमें सब सुभद्र, सुशोभन और परिपुष्ट ही दिखाई देता है। यह समृद्धि यदि समान रूपसे बाँट दी जाती, तो उसीसे पता लग जाता कि देशमें धन ऐसा कुछ ज्यादा नहीं है, जिससे सबको खाने-पहननेको काफी तौरसे जुटता। यहाँ भेद न होनेसे ही धनका चेहरा बिगड़ गया है; और दीनतामें भी कुरूपता नहीं है, है अकिंचनता। देश-भरमें फैला हुआ ऐसा अधन और-कहीं देखा नहीं, इसीसे सबसे पहले हमारी दृष्टि उसीपर पड़ती है। अन्य देशोंमें जिन्हें हम सर्वसाधारण समझते हैं, यहाँ केवल वे ही रहते हैं।

मास्कोकी सड़कोंपर सब तरहके आदमी चल-फिर रहे हैं। किसीमें शान-शौकत नहीं, कोई फीट-फाट नहीं, देखनेसे मालूम

होता है कि मानो अवकाश-भोगी समाज यहांसे सदाके लिए विदा हो गया है। सभी-कोई अपने हाथ-पैरोंसे काम-धंधा करके ज़िन्दगी बिताते हैं, बाबूगीरीकी पालिश कहीं है ही नहीं। डा० पेट्रोव नामक एक सज्जनके घर जानेका काम पड़ा, वे यहांके एक प्रतिष्ठित आदमी हैं, ऊँचे ओहदेदार। जिस मकानमें उनका दफ्तर है, वह पहले एक रईसका मकान था, पर घरमें असबाब बहुत ही कम और सजावटकी तो बू तक नहीं—बिना कार्पेटके फर्शपर एक कोनेमें मामूलीसी एक टेबिल है, संक्षेपमें पितृवियोगमें नाई-धोबी-वर्जित अशौच-दशाका-सा रूखा-रूखा भाव है—जैसे बाहरवालोंके सामने सामाजिकताकी रक्षा करनेकी उनको कोई गरज ही नहीं। मेरे यहाँ जो खाने-पीनेकी व्यवस्था थी, वह ग्रैन्ड-होटल नामधारी पान्थावासके लिए बहुत ही असंगत थी। परन्तु इसके लिए कोई संकोच नहीं—क्योंकि सभीकी एक-सी दशा है।

मुझे अपने बचपनकी बात याद आती है। तबकी जीवन-यात्रा और उसका आयोजन अबकी तुलनामें कितना तुच्छ था, परन्तु उसके लिए हममेंसे किसीके मनमें जरा भी संकोच नहीं था; कारण, तबके संसार-यात्राके आदर्शमें बहुत ऊँच-नीचका भाव नहीं था—सभीके घर एक मामूली-सा चाल-चलन था—फर्क था सिर्फ पाण्डित्यका, यानी गाने-बजाने और लिखने-पढ़ने आदिका। इसके सिवा लौकिक रीतिमें पार्थक्य था, अर्थात् भाषा, भाव-भंगी और आचार-विचारगत विशेषत्व था। परन्तु तब

जैसा हमारा आचार-विचार था और उपकरण आदि जिस ढंगके थे, उन्हें देखकर तो आजकलके मध्यम श्रेणीके लोग भी अवज्ञा कर सकते थे।

अर्थगत वैषम्यकी बड़ाई हमारे यहाँ पाश्चात्य महादेशसे आई है। किसी समय हमारे देशमें जब नई फैशनके आफिस-बिहारी और रोजगारियोंके घरमें नये रुपयोंकी आमदनी हुई, तब उन लोगोंने विलायती बाबूगीरीका चलन शुरू कर दिया। तभीसे असबाबकी तौलसे भद्रताकी तौल शुरू हुई है, इसीलिए हमारे देशमें भी आजकल कुल-शील, रीति-नीति, बुद्धि-विद्या—इन सबके ऊपर आकर दिखाई देती है धनकी विशिष्टता। यह विशिष्टताका गौरव ही मनुष्यके लिए सबसे बढ़कर अगौरव है। यही नीचता कहीं हमारी नसमें भी न घुस जाय, इसके लिए हमें अत्यन्त सावधान हो जाना चाहिए।

यहाँ आकर जो मुझे सबसे अच्छा लगा है, वह है इस धन-गरिमाकी नीचताका सर्वथा तिरोभाव। सिर्फ इसी वजहसे इस देशमें जनसाधारणका आत्म-सम्मान क्षणमें जाग्रत हो उठा है। किसान-मजदूर सभी कोई आज आसम्मानका बोझ पटककर सिर उठाकर खड़े हो सके हैं। इसे देखकर मैं जितना विस्मित हुआ हूँ, उतना ही आनन्दित भी। मनुष्य मनुष्यमें पारस्परिक व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक सहज-स्वाभाविक हो गया है। बहुतसी बातें कहनी हैं, लिखनेकी कोशिश करूँगा—परन्तु अभी तो मेरे लिए विश्राम करनेकी जरूरत है, इसलिए जंगलेके सामने लम्बी

आरामकुर्सीपर पैर पसारकर बैठूंगा, पैरोंपर कम्बल डाल दूंगा— फिर अगर आँखें मिच ही जावें, तो जबरन उन्हें रोक रखनेकी कोशिश न करूंगा।

१९ सितम्बर, १९३०

२

मास्को

बहुत दिन हुए तुम दोनोंको पत्र लिखे। तुम दोनोंकी सम्मिलित चुप्पीसे अनुमान होता है कि वे युगलपत्र मुश्किलसे प्राप्त हो चुके हैं। ऐसी विनष्टि भारतीय डाकखानोंमें आजकल हुआ ही करती है, इसीलिए शंका होती है। इसी वजहसे आजकल चिट्ठी लिखनेको जी नहीं चाहता। कमसे कम तुम लोगोंकी तरफसे उत्तर न मिलनेपर मैं चुप रह जाता हूं। निःशब्द रात्रिके प्रहर लम्बे मालूम होने लगते हैं—उसी तरह 'निःचिट्ठी' का समय भी कल्पनामें बहुत लम्बा हो जाता है। इसीसे रह-रहकर ऐसा मालूम होने लगता है, मानो लोकान्तर-प्राप्ति हुई हो; मानो समयकी गति बदल गई है—घड़ी चलती है लम्बे सालोंपर। द्रौपदीके चीर-हरणकी तरह मेरा देश आनेका समय जितना ही खिंचता जाता है, उतना ही अनन्त होकर वह बढ़ता ही चला जाता है। जिस दिन लौटूंगा, उस दिन तो निश्चित ही लौटूंगा—

आजका दिन जैसे बिलकुल निकट है, वह दिन भी उसी तरह निकट आयेगा, यही सोचकर सान्त्वना पानेकी कोशिश कर रहा हूं।

खैर, कोई बात नहीं, फिलहाल रूसमें आया हूं—न आता तो इस जन्मकी तीर्थयात्रा बिलकुल अधूरी ही रह जाती। यहां इन लोगोंने जैसा कांड किया है, उसपर भले-बुरेका विचार करनेसे पहले ही मुंहसे निकल पड़ता है—कैसा असम्भव साहस है! 'सनातन' नामका जो पदार्थ है, वह मनुष्यकी नस-नसमें मन और प्राणोंके साथ हजार-हजार बनकर जकड़ गया है—उसकी कितनी दिशाओंमें कितने महल हैं, कितने दरवाजोंपर कितने पहरे लग रहे हैं, कितने युगोंसे कितना टैक्स वसूल करके उसका खजाना पहाड़ बन गया है—इन लोगोंने उसे एकदम जड़से उखाड़ फेंका है, इनके मनमें भय, चिन्ता, संशय कुछ भी नहीं। सनातनकी गद्दी झाड़ फेंकी है, नयेके लिए एकदम नया आसन बिछा दिया है। पश्चिम महादेश विज्ञानके बूतेपर दुःसाध्यको साध्य कर दिखाता है, देखकर मन तारीफ कर उठता है; मगर यहाँ जो विशाल कार्य चल रहा है, उसे देखकर मैं सबसे ज्यादा विस्मित हुआ हूं। अगर सिर्फ एक भीषण परिवर्तन या नष्ट-भ्रष्टका मामला होता, तो उससे कुछ आश्चर्य न होता, क्योंकि नेस्तनाबूद करनेकी शक्ति इनमें काफीसे ज्यादा है; मगर यहां देखता हूं कि ये लोग बहुदूरव्यापी एक खेत बनाकर एक नई ही दुनिया बनानेमें कमर कसकर जुट पड़े हैं। देर सही नहीं जाती, क्योंकि दुनिया-भरमें इन्हें प्रतिकूलता-ही-प्रतिकूलता

दिखाई दे रही है, सभी इनके विरोधी हैं—जितनी जल्दी हो सके, इन्हें अपने पैरों खड़ा होना ही होगा—हाथों-हाथ प्रमाणित कर देना है कि ये जो कुछ चाहते हैं, वह इनकी भूल नहीं है, 'हजार वर्ष' के विरुद्ध 'दस-पन्द्रह वर्ष' को लड़कर जीतना ही है—प्रतिज्ञा जो की है। अन्य देशोंकी तुलनामें इनका आर्थिक बल बहुत ही थोड़ा है, हाँ, प्रतिज्ञाका ज़ोर दुर्द्धर्ष है।

यह जो क्रान्ति हुई है, उसे रूसमें ही होना था—इसके लिए वह बाट जोह रही थी। तैयारियाँ बहुत दिनोंसे हो रही थीं। प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी तरहके लोगोंने कितने ही दिनोंसे प्राण दिये हैं, असह्य दुःख सहे हैं। संसारमें विप्लवके कारण बहुत दूर तक व्यापक रहते हैं, परन्तु किसी-न-किसी जगह वे घनीभूत हो उठते हैं, समस्त शरीरका रक्त दूषित होनेपर भी कहीं एक कमज़ोर स्थानपर फोड़ा होकर लाल हो उठता ही है। जिनके पास धन है, जिनके हाथमें शक्ति है, उनके हाथोंसे निर्धन और अशक्तोंने इसी रूसमें ही असह्य अत्याचार सहे हैं। दोनों पक्षोंका वही अत्यधिक असाम्य अन्तमें प्रलयके बीचमेंसे गुजरकर इस रूसमें ही प्रतिकार करनेपर उतारू है।

एक दिन फरासीसी-विद्रोह हुआ था इसी असाम्यकी ताड़नासे। उस दिन वहाँके पीड़ित समझ गये थे कि इस असाम्यका अपमान और दुःख विश्वव्यापी है, इसीलिए उस दिनके विप्लवमें साम्य, भ्रातृत्व और स्वातंत्र्यकी वाणी स्वदेशकी लकीर पार करके बाहर भी ध्वनित हो उठी थी; पर वह टिकी नहीं। इनके यहाँकी

क्रान्तिकी वाणी भी विश्ववाणी है। आज संसारमें कम-से-कम इस देशके लोग तो ऐसे हैं, जो स्वजातिके स्वार्थपर ही समस्त मानव-समाजका स्वार्थ सोच रहे हैं। यह वाणी स्थायी-रूपसे टिक सकेगी या नहीं, कोई कह नहीं सकता; परन्तु स्वजातिकी समस्या समस्त मानव-जातिकी समस्याके अन्तर्गत है, यह बात वर्तमान युगके भीतरकी बात है, इसे मानना ही होगा।

इस युगमें विश्व-इतिहासकी रंगभूमिका पर्दा उठ गया है। अब तक मानो भीतर-ही-भीतर रिहर्सल हो रहा था—थोड़ा-थोड़ा करके अलग-अलग कमरोंमें। प्रत्येक देशके चारों तरफ चहारदीवारी थी। बाहरसे आने-जानेका रास्ता बिलकुल था ही नहीं, सो बात नहीं; परन्तु विभागोंमें बँटे हुए मानव-संसारका जो चेहरा देखा है, आज उसे नहीं देखता। उस दिन दिखाई दे रहा था एक-एक पेड़, आज देख रहा हूं अरण्य। मानव-समाजमें यदि भार-सामंजस्यका अभाव हो गया हो, तो वह आज दिखाई दे रहा है संसारके इस पारसे लेकर उस पार तक। इस तरह विशालरूपमें दिखाई देना कोई कम बात नहीं है।

टोकियोमें जब कोरियाके एक युवकसे पूछा था कि तुम्हें कष्ट किस बातका है? तो उसने कहा था—"हमारे कँधोंपर महाजनोंका राज्य सवार है, हम उनके मुनाफेके वाहन हैं।" मैंने पूछा—"किसी भी कारणसे हो, जब कि तुम लोग कमजोर हो, तो यह भार तुम अपने बूतेपर कैसे झाड़ फेंक सकते हो?" उसने कहा—"निरुपाय पराधीन जातियाँ तो आज दुनिया-भरमें

फैली हुई हैं, दुःख उन सबको एक साथ मिला देगा—जो धनी हैं, जो शक्तिसम्पन्न हैं, वे अपने-अपने लोहेके सन्दूकों और सिंहासनोंके चारों तरफ अलग खड़े रहेंगे, वे कभी मिल नहीं सकेंगे। कोरियाको बल है अपने दुःखका बल।"*

दुःखी आज समस्त मानव-जातिकी रंगभूमिपर अपनेको विराट रूपमें देख रहा है; यह बड़ी-भारी बात है। पहले अपनेको अलग देख रहा था, इसीसे किसी भी प्रकार अपने शक्तिरूपको नहीं देख सका था—भाग्यके भरोसे सब-कुछ सहता रहा था। आज अत्यन्त निरुपाय भी कम-से-कम उस स्वर्गराज्यकी कल्पना कर सकता है, जहाँ दुःखीका दुःख दूर होता है, अपमानितका अपमान दूर होता है। यही कारण है कि संसार-भरके दुःखजीवी आज जाग उठे हैं—उन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान हो गया है।

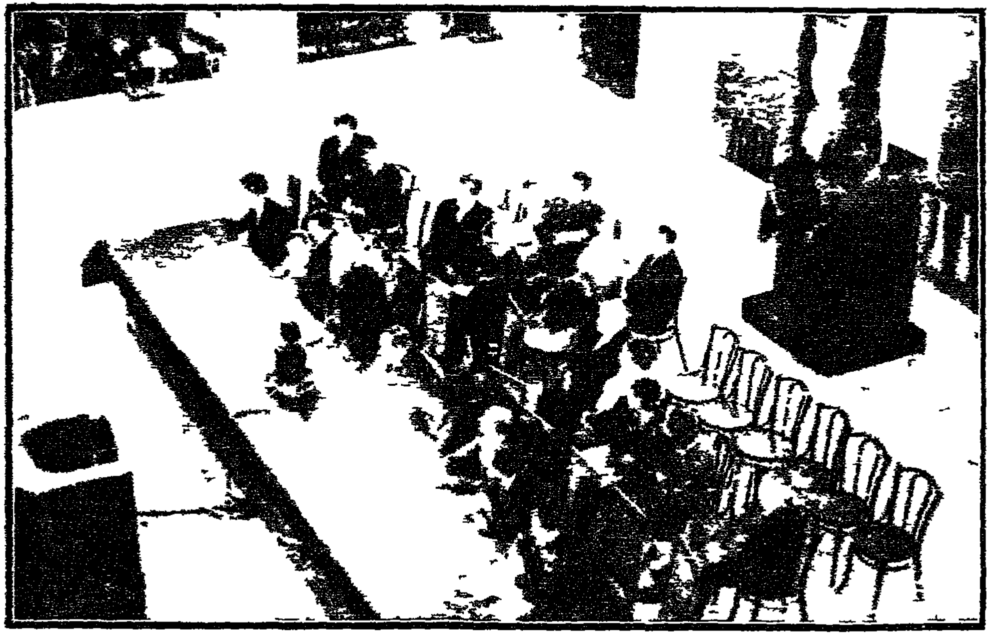
जो शक्तिमान हैं, वे उद्धत हैं। आज जिस शक्तिकी प्रेरणाने, दुःखियोंमें संचारित होकर, उन्हें चंचल बना दिया है, बलशाली उसे बाहरसे दबा देना चाहते हैं—उसके दूतोंको घरमें घुसने नहीं देते, उनका गला घोंटे दे रहे हैं। परन्तु वास्तवमें जिससे उन्हें सबसे अधिक डरना चाहिए था, वह है दुःखीका दुःख। पर उसीकी ये हमेशासे अवज्ञा करते आये हैं, और अब यह उनकी आदत पड़ गई है। अपने लाभके लिए उस दुःखको ये बढ़ाये ही जाते हैं, जरा भी नहीं डरते, अभागे किसानको दुर्भिक्षके कवलमें ठूसकर फी-सदी दो-तीन सौका मुनाफा उठानेमें

* परिशिष्ट देखो।

इनका हृदय नहीं कांपता। क्योंकि उस मुनाफेको ही ये शक्ति समझते हैं। परन्तु मानव-समाजके लिए सभी तरहकी अतियें विपत्ति है, उसे बाहरसे कभी भी दबाया नहीं जा सकता। अति-शक्ति अति-अशक्तिके विरुद्ध हमेशा अपनेको बढ़ाये हुए नहीं चल सकती। क्षमताशाली यदि अपनी शक्तिके मदमें उन्मत्त न रहता, तो वह सबसे ज्यादा डरता इसी असाम्यकी ज्यादतीसे; क्योंकि असामंजस्य-मात्र ही विश्वविधिके विरुद्ध है।

मास्कोसे जब निमंत्रण मिला, तब तक बोल्शेविकोंके सम्बन्धमें मेरे हृदयमें कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उनके विषयमें बराबर उलटी ही बातें सुनता आया था। मेरे मनमें उनके विरुद्ध एक खटका-सा था, क्योंकि प्रारम्भमें उनकी जो साधना थी, वह ज़बरदस्तीकी थी। मगर अब एक बात खास देखनेमें आई, यह कि इनके प्रति यूरोपमें जो विरुद्धता थी, वह अब क्षीण होती जा रही है। मैं रूस जा रहा हूं, सुनकर बहुतोंने मुझे उत्साहित किया है। यहां तक कि एक अंगरेजके मुंहसे भी इनकी प्रशंसा सुनी है। बहुतोंने कहा है कि ये एक अति आश्चर्यजनक परीक्षामें लगे हुए हैं।

और बहुतोंने मुझे डराया भी था, पर डरानेका मुख्य विषय था आरामकी कमी। कहते थे, खाना-पीना सब ऐसा मामूली दर्जेका है कि मुझसे वह सहा नहीं जायगा। इसके सिवा ऐसी बात भी बहुतोंने कही थी कि मुझे ये लोग जो-कुछ दिखायेंगे, उसका अधिकांश बनावटी होगा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि



साहित्य-सभामें रवीन्द्रनाथका स्वागत

मेरी उमरमें मुझ जैसे शरीरवालेका रूसमें भ्रमण करना दुस्साहस है, परन्तु संसारमें जहाँ सबसे बढ़कर ऐतिहासिक यज्ञका अनुष्ठान हो रहा हो, वहाँ निमंत्रण पाकर भी न जाना मेरे लिए अक्षम्य होता।

इसके सिवा, मेरे कानोंमें कोरियाके उस युवककी बात गूँज रही थी। मन-ही-मन सोच रहा था कि धन-शक्तिमें दुर्जय पाश्चात्य सभ्यताके प्रांगण-द्वारपर रूस आज समस्त पाश्चात्य महादेशोंके भ्रकुटि-कुटिल कटाक्षकी उपेक्षा करके निर्धनोंके लिए आसन जमाकर शक्तिकी साधना करने बैठा है। उसे देखनेके लिए मैं न जाऊँगा, तो कौन जायगा? वे शक्तिशालीकी शक्तिको, धनवानके धनको खतरेमें डाल देना चाहते हैं, इसमें हमें डर किस बातका? हम क्यों बिगड़ें? हमारी शक्ति ही कितनी है, धन ही कितना है? हम तो संसारके निरन्न—भूखे—निःसहायोंमेंसे हैं।

यदि कोई कहे कि दुर्बलोंकी शक्तिको जगानेके लिए ही वे कटिबद्ध हुए हैं, तो हम किस मुँहसे कहें कि उनकी परछाँहीसे दूर रहो? सम्भव है, वे भूलते भी हों,—पर उनके विपक्षी भूल नहीं करते, यह कौन कह सकता है? किन्तु, आज समय आगया है यह कहनेका कि अशक्तकी शक्ति अगर आज भी न जागी, तो मनुष्यका निस्तार नहीं; कारण, शक्तिमानकी 'शक्ति' अत्यन्त प्रबल हो उठी है—अब तक भूलोक उत्सन्न हो उठा था, आज आकाशको अति-पापोंने कलुषित कर दिया है; निरुपाय आज अत्यन्त ही निरुपाय हैं—समस्त सुयोग-सुविधाएँ

आज मानव-समाजके एक ओर पुंजीभूत हैं, दूसरी ओर सर्वत्र अनन्त निःसहायता-ही-निःसहायता नज़र आ रही है।

इसके कुछ दिन पहलेसे ही ढाकेके अत्याचारकी बात मेरे मनमें उधेड़-बुन मचाये हुए थी। कैसी अमानुषिक निष्ठुरता थी वह, पर इंग्लैन्डके अख़बारोंमें उसकी कोई ख़बर ही नहीं छपी—जब कि यहाँ किसी मोटर-दुर्घटनामें दो-एक आदमी मर जानेपर उसकी ख़बर देशके इस छोरसे उस छोर तक फैल जाती है—मगर हमारा धन-प्राण-मान तो बहुत ही सस्ता हो गया है! जो इतने सस्ते हैं, उनके विषयमें कभी न्याय या सुविचार हो ही नहीं सकता।

हमारी फरियाद संसारके कानों तक पहुंच ही नहीं सकती, सारी राहें बंद हैं। और मज़ा यह कि हमारे विरुद्ध संसार-व्यापी प्रचार करनेके उपाय इनके हाथमें पूरे तौरपर हैं। आज दिन कमज़ोर जातियोंके लिए यह भी एक बड़ी-भारी ग्लानिकी बात है, क्योंकि आज ज़माना ऐसा है कि जनश्रुति या अफवाहें तक सारी दुनियामें फैल जाती हैं; वाक्य-चालनाके यंत्र तो सब शक्तिमान जातिके हाथमें हैं, और वे बदनामी और अपयशकी ओटमें अशक्त जातियोंको विलुप्त रखना चाहते हैं। संसारके सामने यह बात काफी तौरसे प्रचारित है कि हम हिन्दू-मुसलमान आपसमें मार-काट करते ही रहते हैं, इसलिए······ इत्यादि। मगर यूरोपमें भी तो किसी दिन साम्प्रदायिक मार-काट होती थी,—वह गई किस तरह? केवल एक शिक्षाके

प्रचारसे ही उसका लोप हुआ है। हमारे देशमें भी उसी उपायसे साम्प्रदायिक झगड़ोंका लोप हो सकता था; मगर अंग्रेजी शासनको यहाँ सौ वर्षसे भी अधिक हो गये, पर फी-सदी पाँच आदमियोंके भाग्यमें ही शिक्षा जुटी, और वह भी शिक्षा नहीं—शिक्षाकी विड़म्बना-मात्र है!

अवज्ञाके कारणोंको दूर करनेकी कोशिश न करके लोगोंके सामने यह साबित करना कि हम अवज्ञाके ही योग्य हैं, यह हमारी अशक्तिका सबसे बड़ा टैक्स है। मनुष्यकी समस्त समस्याओंके समाधानोंकी जड़ है सुशिक्षा। हमारे देशमें उसका रास्ता ही बन्द है, कारण, Law and Order (क़ानून और व्यवस्था) ने और किसी उपकारके लिए जगह ही नहीं रखी, खजाना बिलकुल खाली है। मैंने देशके कामोंमें शिक्षाके कामको अग्र मान लिया था,—जनसाधारणको आत्म-शक्तिपर भरोसा रखनेको शिक्षा देनेके लिए अब तक मैंने अपनी सारी सामर्थ्य लगा देनेकी कोशिश की है। इसके लिए सरकारकी अनुकूलताको भी मैंने ठुकराया नहीं, और साथ ही कुछ आशा भी रखी है—मगर तुम तो जानती ही हो, कितना फल मिला है। समझ चुका हूं, यह होनेका नहीं। हमारा पाप जबरदस्त है, हम अशक्त हैं।

इसीलिए जब सुना कि रूसमें सर्वसाधारणकी शिक्षा शून्य-अंकसे एकदम बड़े अंकोंमें बढ़ गई, तब मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि कम शरीर भले ही और भी कम हो जाय,

पर रूस तो जाना ही होगा। ये लोग समझ गये हैं कि अशक्तको शक्ति देनेका एकमात्र उपाय है शिक्षा—अन्न, स्वास्थ्य, शान्ति—सब कुछ इसीपर निर्भर है। कोरे 'Law and Order' से न तो पेट भरता है, न मन। और तुर्रा यह कि उसके दाम चुकानेमें सर्वस्व बिक गया।

आधुनिक भारतकी आवहवामें मैं पला हूं, इसीसे अब तक मेरी यह दृढ़ धारणा थी कि लगभग तीस करोड़ मूर्खोंको विद्यादान करना असम्भव ही समझो, इसके लिए शायद सिवा अपने दुर्भाग्यके और किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। जब सुना कि यहाँ किसान और मजदूरोंमें शिक्षाका प्रचार बड़ी तेजीसे हो रहा है, मैंने सोचा कि वह शिक्षा मामूली होगी—जरासा पढ़-लिख लेने और जोड़-बाकी कर लेने-भरकी—सिर्फ गिननेमें ही उसका गौरव है, पर इतना क्या थोड़ा है। हमारे देशमें इतना ही हो जाता, तो राजाको आशीर्वाद देकर देश लौट आता। परन्तु यहाँ देखा कि खूब अच्छी शिक्षा है—आदमीको आदमी बना देने लायक, नोट रटकर एम० ए० पास करनेकी-सी नहीं।

परन्तु ये सब बातें और जरा विस्तारसे लिखना चाहता हूं, आज तो अब समय नहीं रहा। आज ही शामको बर्लिनकी ओर रवाना होना है। उसके बाद तीसरी अक्टूबरको अटलान्टिक परसे यात्रा करूँगा—मियाद कितने दिनकी, सो आज भी निश्चित नहीं कह सकता।

मगर शरीर और मन हामी नहीं भरता—फिर भी अबकी

इस मौकेको छोड़नेकी हिम्मत नहीं पड़ती—अगर कुछ बटोरकर ला सका, तो ज़िन्दगीके जो कुछ दिन बाकी हैं, उनमें आराम कर सकूँगा। नहीं तो, दिन-पर-दिन मूलधन खोकर अन्तमें बत्ती बुझाकर विदा लेना, यह भी बुरा प्लैन नहीं है—थोड़ासा उच्छिष्ट बर्बर जानेसे जगह गंदी हो जायगी। पूँजी ज्यों-ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों मनुष्यकी आन्तरिक दुर्बलता प्रकट होती जाती है—उतनी ही शिथिलता, झगड़ा-टंटा, एक दूसरेके विरुद्ध कानाफूसी बढ़ती जाती है। उदारता अधिकतः भरे-पेटपर निर्भर होती है। जहाँ कहीं यथार्थ सिद्धिका चेहरा दिखाई देता है, वहीं देखते हैं कि वह सिर्फ रुपये देकर बाज़ारमें खरीदनेकी वस्तु नहीं—दरिद्रताका खेत ही उस सोनेकी फसलको देता है। वहाँकी शिक्षा-व्यवस्थामें जैसा अथक उद्यम, जैसा साहस, जैसी बुद्धिशक्ति और जैसा आत्मोत्सर्ग देखा, उसका थोड़ा अंश भी अगर हममें होता, तो कृतार्थ हो जाता। आन्तरिक शक्ति और अकृत्रिम उत्साह जितना कम होता है, रुपयेकी खोज भी उतनी ही अधिक करनी पड़ती है।

२५ सेप्टेम्बर, १९३०

४

मास्कोसे सोवियटकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें दो बड़ी-बड़ी चिट्ठियाँ लिखी थीं। वे कब मिलेंगी और मिलेंगी भी या नहीं, मालूम नहीं।

बर्लिनमें आकर एक साथ तुम्हारी दो चिट्ठियाँ मिलीं। घोर वर्षाकी चिट्ठी हैं ये, शान्ति-निकेतनके आकाशमें शालवनके ऊपर मेघकी छाया और जलकी धारामें सावन हिलोरें ले रहा है—यह चित्र मानसपटपर खिंचते ही मेरा चित्त कैसा उत्सुक हो उठता है, तुमसे तो कहना ही फिजूल है।

परन्तु अबकी जो रूसका चक्कर लगाया, सो वह चित्र मनसे धुल-पुछ गया। बार-बार मैं अपने यहांके किसानोंके कष्टोंकी बात सोच रहा हूं। अपने यौवनके आरम्भकालसे ही बंगालके ग्रामोंके साथ मेरा निकट-परिचय है। तब किसानोंसे रोज मेरी भेंट-मुलाकात होती थी—उनकी फरियादें मेरे कानों तक पहुंचती थीं। मैं जानता हूं कि उनके समान निःसहाय जीव बहुत थोड़े ही होंगे; वे समाजके अँधेरे तहखानेमें पड़े हैं, वहाँ ज्ञानका उजेला बहुत ही कम पहुंचता है, और जीवनकी हवा तो जाती ही नहीं, समझ लो।

उस ज़मानेमें जो लोग देशकी राजनीतिके क्षेत्रमें अखाड़ा जमाये हुए थे, उनमें से ऐसा कोई भी न था, जो ग्रामवासियोंको भी देशका आदमी समझता हो। मुझे याद है, पबना-कानफरेन्सके समय मैंने उस समयके एक बहुत बड़े राष्ट्र-नेतासे कहा था कि हमारे देशकी राष्ट्रीय उन्नतिको यदि हम सत्य या वास्तविक बनाना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें इन नीचेके लोगोंको आदमी बनाना होगा। उन्होंने उस बातको इतना तुच्छ समझकर उड़ा दिया कि मैं स्पष्ट समझ गया कि हमारे देश-नेताओंने 'देश' नामके तत्त्वको विदेशी पाठशालासे समझा है, अपने देशके मनुष्योंकी वे हृदयमें अनुभूति नहीं करते। ऐसी मनोवृत्तिसे लाभ सिर्फ इतना ही है कि 'हमारा देश विदेशियोंके हाथमें है'—इस बातपर हम पश्चात्ताप कर सकते हैं, उत्तेजित हो सकते हैं, कविता लिख सकते हैं, अखबार चला सकते हैं; मगर काम तो तभीसे शुरू होता है, जब हम अपने देशवासियोंको अपना आदमी कहनेके साथ ही साथ उसका दायित्व भी तभीसे स्वीकार कर लें।

तबसे बहुत दिन बीत गये। उस पबना-कानफरेन्समें ग्राम-संगठनके विषयमें मैंने जो कुछ कहा था, उसकी प्रतिध्वनि बहुत बार सुनी है—सिर्फ शब्द नहीं, ग्राम-हितके लिए अर्थ भी संग्रह हुआ है—परन्तु देशके जिस ऊपरी मंजिलमें शब्दोंकी आवृत्ति हुई है, वहीं वह अर्थ भी घूम-फिरकर विलुप्त हो गया है, समाजके जिस गहरे खंदकमें गाँव डूबे हुए हैं, वहाँ तक उसका कुछ अंश भी नहीं पहुँचा।

एक दिन मैंने पद्माकी रेतीपर बोट लगाकर साहित्य-चर्चा की थी। मनमें ऐसी धारणा थी कि लेखनीसे भावकी खान खोदूँगा, यही मेरा एकमात्र कार्य है, और किसी कामके मैं लायक ही नहीं। मगर जब यह बात कह-सुनकर किसीको समझा न सका कि हमारे स्वायत्वशासन या स्वराज्यका क्षेत्र है देहातोंमें, और उसका आन्दोलन आजसे ही शुरू करना चाहिए, तब कुछ देरके लिए मुझे कलम कानमें खोंसकर यह बात कहनी ही पड़ी कि 'अच्छा, मैं ही इस काममें जुटूँगा।' इस संकल्पमें मेरी सहायता करनेके लिए सिर्फ एक आदमी मिला था—वे हैं कालीमोहन। शरीर उनका रोगसे जीर्ण है, दोनों वक्त उन्हें बुखार आता है, और उसपर भी पुलिसके रजिस्टरमें उनका नाम चढ़ चुका है।

उसके बाद, फिर वह इतिहास दुर्गम ऊबड़खाबड़ मार्गसे थोड़ासा तोशा लेकर चला है। मेरा अभिप्राय था—किसानोंको आत्म-शक्तिमें दृढ़ करना ही होगा। इस विषयमें दो बातें सदा ही मेरे हृदयमें आन्दोलित होती रही हैं—जमीनपर अधिकार न्यायतः जमींदारका नहीं, बल्कि किसानका होना चाहिए; दूसरे, समवाय नीतिके अनुसार खेतीके खेत सब एकसाथ बिना मिलाये किसानोंकी कभी उन्नति हो ही नहीं सकती। मानधाताके जमानेका हल लेकर मेड़दार छोटेसे खेतमें फसल पैदा करना और फूटी गागरमें पानी लाना—दोनों एक ही बात है।

किन्तु ये दोनों ही मार्ग दुरूह हैं। पहले तो किसानोंको

जमीनका अधिकार देनेसे वह स्वत्व दूसरे ही क्षण महाजनके हाथमें चला जायगा, इससे उनके कष्टोंका भार बढ़नेके सिवा घटेगा नहीं। खेतोंको एक साथ मिलाकर खेती करनेके विषयमें मैंने एक दिन किसानोंको बुलाकर इसकी चर्चा की था। सिलाइदहमें मैं जिस मकानमें रहता था, उसके बरामदेसे एकके बाद एक दिगन्त तक खेत-ही-खेत दिखाई देते थे। खूब सबेरे ही उठकर हल-बैल लिये एक-एक किसान आता और अपना छोटासा खेत जोतकर घर लौट जाता। इस तरहकी बँटी हुई शक्तिका कितना अपव्यय होता है, सो मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। किसानोंको बुलाकर उन्हें जब सब खेतोंको एक साथ मिलाकर मशीनके हलसे खेती करनेकी सहूलियतें मैंने समझाईं, तो उन लोगोंने उसे उसी समय मान लिया। मगर कहा—'हम लोग कमअक्ल हैं, इतना भारी काम कैसे सम्हालेंगे?' अगर मैं कह सकता कि उसका भार मैं लेनेको तैयार हूँ, तो फिर कोई झंझट ही न रहता; पर मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ? ऐसे कामके चलानेका भार लेना मेरे लिए असम्भव है—वह शिक्षा, वह शक्ति मुझमें नहीं है।

परन्तु यह बात बराबर मेरे हृदयमें जाग्रत रही है। जब बोलपुरमें को-आपरेटिवकी व्यवस्थाका भार विश्वभारतीके हाथमें आया, तब फिर एक दिन आशा हुई थी कि अबकी बार शायद मौक़ा मिल जायगा। जिनके हाथमें आफिसका भार है, उनकी उमर कम है, मुझसे उनकी बुद्धि कहीं विकायती और शिक्षा

बहुत ज़्यादा है। परन्तु हमारे युवक ठहरे स्कूल-सिखुए, और किताब-रट्टू है उनका हृदय। हमारे देशमें जो शिक्षा प्रचलित है, उससे हममें विचार करनेकी शक्ति, साहस और काम करनेकी दक्षता नहीं रहती, किताबी बोलियोंकी पुनरावृत्ति करनेपर ही छात्रोंका उद्धार अवलम्बित है।

बुद्धिकी इस पल्लवग्राहिताके सिवा हमारे अंदर और भी एक विपत्तिका कारण मौजूद है। स्कूलमें जिन्होंने पाठ कंठ किये हैं, और स्कूलके बाहर रहकर जिन्होंने पाठ कंठ नहीं किये, इन दोनोंमें श्रेणी-विभाग हो चुका है—शिक्षित और अशिक्षितका। स्कूलमें पढ़े मनका आत्मीयता-ज्ञान पोथी-पत्रोंके पाठके बाहर नहीं पहुंच सकता। जिन्हें हम गँवार-किसान कहते हैं, पोथीके पन्नोंका पर्दा भेदकर उन तक हमारी दृष्टि नहीं जाती, वे हमारे लिए अस्पष्ट हैं। इसीलिए वे हमारे सब प्रयत्नोंके बाहर रहकर स्वभावतः ही अलग छूट जाते हैं। यही कारण है कि को-आपरेटिव या सहयोग-समितियोंके जरिये अन्य देशोंमें जब समाजके निम्न-श्रेणीमें एक सृष्टिका कार्य चल रहा है, तब हमारे देशमें दबे-हाथों रुपये उधार देनेके सिवा आगे और कुछ काम नहीं बढ़ सका। क्योंकि उधार देना, उसका सूद जोड़ना और रुपये वसूल करना अत्यन्त भीरु हृदयके लिए भी सहज काम है; बल्कि यों कहना चाहिए कि भीरु हृदयके लिए ही सहज है, उसमें यदि गिनतीकी भूल न हो तो कोई आशंका ही नहीं।

बुद्धिका साहस और जनसाधारणके प्रति सहानुभूति—इन

दोनोंके अभावसे ही दुःखीका दुःख दूर करना हमारे देशमें इतना कठिन काम हो गया है ; परन्तु इस अभावके लिए किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि क्लार्क-फैक्टरी बनानेके लिए ही एक दिन हमारे देशमें वणिक-राज्य द्वारा स्कूल खोले गये थे। टेबिल-लोकमें मालिकके साथ सायुज्य (अभेद) प्राप्त करनेमें ही हमारी सद्गति है। इसीलिए उम्मेदवारीमें अकृतार्थ होते ही हमारी विद्या-शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए हमारे देशमें प्रधानतः देशका काम कांग्रेसके पंडाल और अखबारोंकी लेखमालामें शिक्षित सम्प्रदायके वेदना-उद्घोषणमें ही चक्कर काट रहा था। हमारे कलमसे बँधे हाथ देशको बनानेके काममें आगे बढ़ ही न सके।

मैं भी तो भारतकी ही आबहवामें पला हूं, इसीलिए ज़ोरके साथ इस बातको कयासमें लानेकी हिम्मत न कर सका कि करोड़ों जनसाधारणकी छातीपरसे अशिक्षा और असामर्थ्यका पहाड़ उतारना सम्भव है। अब तक यही सोचता रहा हूं कि थोड़ा-बहुत कुछ किया जा सकता है या नहीं। सोचा था, समाजका एक चिरबाधा-ग्रस्त जो नीचेका अंश है, जहाँ कभी भी सूर्यका प्रकाश पूर्णरूपसे नहीं पहुंचाया जा सकता, वहाँ कमसे कम तेलकी बत्ती जलानेके लिए कमर कसकर जुट जाना चाहिए। परन्तु साधारणतः उतना कर्तव्य-बोध भी लोगोंके दिलपर काफी ज़ोरके साथ धक्का नहीं लगाता ; क्योंकि जिन्हें हम अँधेरेमें देख ही नहीं सकते, उनके लिए कुछ भी किया जा सकता है—यह बात भी साफ तौरसे हमारे मनमें नहीं आती।

इस तरहके स्वल्प साहसी हृदयको लेकर ही रूसमें आया था ; सुना था—यहाँ किसान और मजदूरोंमें शिक्षा-प्रचारका कार्य बहुत ज्यादा बढ़ गया है और बढ़ता ही जाता है। सोचा था, इसके मानी ये हैं कि यहाँ ग्रामीण पाठशालाओंमें 'शिशु-शिक्षा' का पहला भाग या बहुत हो तो दूसरा भाग पढ़ानेका कार्य, संख्यामें, हमारे देशसे अधिक हुआ है। सोचा था, उनकी सांख्यिक सूची उलट-फेरकर देख सकूंगा कि वहाँके कितने किसान दस्तखत कर सकते हैं और कितनोंने १० तक पहाड़े याद कर लिये हैं।

याद रखना, यहाँ जिस क्रान्तिने ज़ारका शासन लुप्त किया है वह हुई है १९१७ में। अर्थात् उस घटनाको हुए सिर्फ तेरह वर्ष हुए हैं। इसी बीचमें उन्हें क्या घर और क्या बाहर, सर्वत्र प्रचंड विरुद्धताके साथ युद्ध करना पड़ा है। ये अकेले हैं, और इनके ऊपर एक बिलकुल टूटे-फूटे राष्ट्रकी व्यवस्थाका भार है। मार्ग इनका पूर्व दुःशासनके कूड़े-करकटकी गंदगीसे भरा पड़ा है—दुर्गम है। जिस आत्म-क्रान्तिके प्रबल तूफानके समय इन लोगोंने नवयुगके घाटके लिए यात्रा की थी, उस क्रान्तिके प्रच्छन्न और प्रकाश्य सहायक थे इंग्लैन्ड और अमेरिका। आर्थिक अवस्था या पूँजी इनके पास बहुत ही थोड़ी है—विदेशके महाजनोंकी गद्दियोंमें इनकी क्रेडिट नहीं है। देशमें इनके कल-कारखाने काफी तादादमें न होनेसे अर्थोपार्जनमें ये शक्तिहीन हैं, इसलिए किसी तरह पेटका अन्न बेचकर इनका उद्योगपर्व चल रहा है।

इसपर राष्ट्र-व्यवस्थामें सबसे बढ़कर जो अनुत्पादक विभाग—सेना-विभाग है, उसके पूरी तरहसे सुदक्ष रखनेका अपव्यय भी इनके लिए अनिवार्य है। क्योंकि आधुनिक महाजनी युगकी समस्त राष्ट्र-शक्तियाँ इनकी शत्रु हैं, और उन सबोंने अपनी-अपनी अस्त्रशालाएँ छत तक भर रखी हैं।

याद है, इन्हीं लोगोंने लीग-आफ्-नेशन्समें अस्त्र-निषेधका प्रस्ताव भेजकर कपट शान्ति-इच्छुकोंके मनको चौंका दिया था। क्योंकि अपना प्रताप बढ़ाना या उसकी रक्षा करना सोवियटोंका लक्ष्य नहीं है—इनका उद्देश्य है सर्वसाधारणकी शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्न और जीवनकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके उपाय-उपकरणोंको प्रकृष्ट प्रणालीसे व्यापक बना देना; इन्हींके लिए निरुपद्रव शान्तिकी सबसे अधिक आवश्यकता है। परन्तु तुम तो जानते ही हो, लीग-आफ्-नेशन्सके सभी पहलवान गुंडईके बहु-विस्तृत उद्योगको किसी तरह भी बंद नहीं करना चाहते; महज इसलिए कि शान्तिकी जरूरत है सब मिलकर पुकार मचाते हैं। यही कारण है कि सभी साम्राज्यवाले देशोंमें अस्त्र-शस्त्रके कँटीले जंगलकी फसल अन्नकी फसलसे आगे बढ़ती जा रही है। इसी बीचमें कुछ समय तक रूसमें बड़ा-भारी दुर्भिक्ष भी पड़ा था—कितने आदमी मरे, जिसका ठीक नहीं। उसकी ठेस सहकर भी सिर्फ आठ वर्षसे ये नये युगको गढ़नेका काम कर रहे हैं—बाहरके उपकरणोंका अभाव होते हुए भी।

यह मामूली काम नहीं है—यूरोप और एशिया-भरमें

बड़ा-भारी इनका राष्ट्रक्षेत्र है। प्रजामंडलीमें इतनी विभिन्न जातियाँ हैं कि भारतमें भी उतनी न होंगी। उनकी भूप्रकृति और मानव प्रकृतिमें परस्पर पार्थक्य बहुत ज़्यादा है। वास्तवमें इनकी समस्या बहु-विचित्र जातियोंसे भरी हुई है, मानो यह बहु-विचित्र अवस्थापन्न विश्व-संसारकी समस्याका ही संक्षिप्त रूप हो।

तुमसे पहले ही कह चुका हूं कि बाहरसे जब मास्को शहर देखा, तो वह यूरोपके और सब धनी शहरोंकी तुलनामें अत्यन्त मलिन मालूम हुआ। सड़कोंपर जो लोग चल-फिर रहे हैं, उनमें एक भी शौकीन नहीं, सारा शहर मामूली रोजीनाके पहननेके कपड़े पहने हुए है। रोजीनाके कपड़ोंमें श्रेणीभेद नहीं होता, श्रेणीभेद होता है शौकीनी पोशाकमें। यहां साज-पोशाकमें सब एक हैं। सब मजदूरोंके ही मुहल्ले हैं—जहाँ निगाह दौड़ाओ, वहाँ ये ही ये हैं। यहाँ मजदूरों और किसानोंका कैसा परिवर्तन हुआ है, उसे देखनेके लिए पुस्तकालयमें जाकर किताब खोलने अथवा गांवों या बस्तीमें जाकर नोट करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। जिन्हें हम 'भद्र' या 'शरीफ आदमी' कहते हैं, वे कहाँ हैं, सवाल तो यह है।

यहाँकी साधारण जनता भद्र या शरीफ आदमियोंके आवरणकी छायासे ढकी नहीं है; जो युग-युगमें नेपथ्यमें थे, वे आज बिलकुल खुले मैदानमें आ गये हैं। ये पहली पोथी पढ़कर सिर्फ छापेके हरूफ ढूँढ़ते फिरते होंगे—मेरी इस भूलका सुधार बहुत जल्दी हो गया। इन्हीं कई सालोंमें ये मनुष्य हो गये हैं।

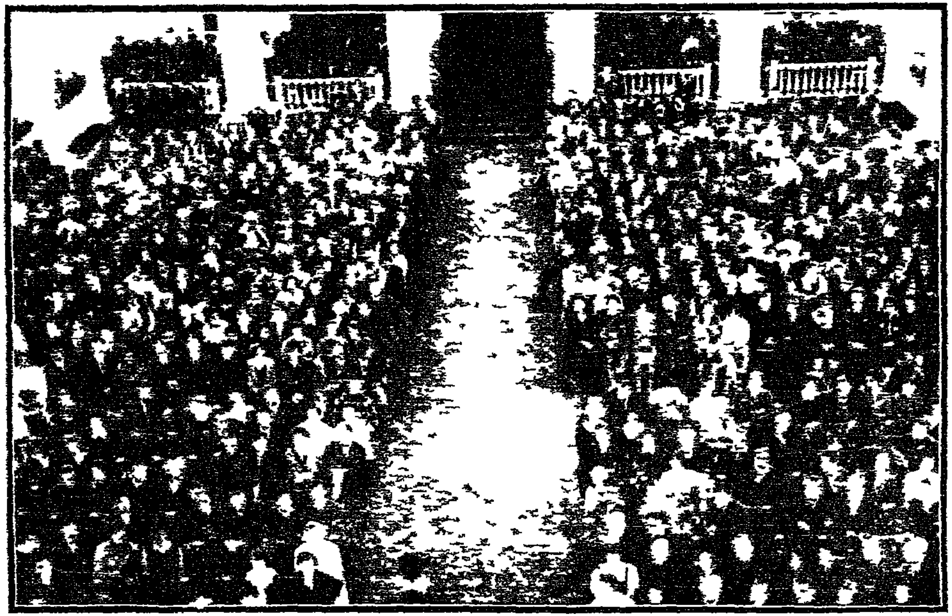
अपने देशके किसान-मजूरोंकी याद उठ आई। 'अलिफलैला' के जादूगरकी करामात-सी मालूम होने लगी। दस ही वर्ष पहलेकी बात है, ये लोग हमारे देशके मजदूरोंकी तरह ही निरक्षर निःसहाय और निरन्न थे, हमारे ही समान अन्ध-संस्कार और धर्म-मूढ़ता इनमें मौजूद थी। दुःखमें, आफत-विपतमें देवताके द्वारपर इन्होंने सिर पटके हैं। परलोकके भयसे पंडा पुरोहितोंके हाथ और इहलोकके भयसे राजपुरुष, महाजन और जमींदारोंके हाथ अपनी बुद्धिको ये बन्धक रख चुके थे। जो इन्हें जूतोंसे मारते थे, उन्हींके वे ही जूते साफ करना इनका काम था। हजारों वर्षसे इनकी प्रथा-पद्धतियोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ; यान और वाहन, चरखा और कोल्हू—सब बाबा आदमके जमानेके चले आते थे; इनसे हालके हथियारसे हाथ लगानेको कहा जाता था, तो ये बिगड़ खड़े होते थे। हमारे देशके तीस करोड़ आदमियोंपर जैसे भूतकालका भूत सवार है, उसने जैसे उनकी आँखें मीच रखी हैं—इन लोगोंका भी ठीक वैसा ही हाल था। इन्हीं कई वर्षोंमें इन्होंने उस मूढ़ता और अक्षमताके पहाड़को हिला दिया तो किस तरह हिलाया!—इस बातसे अभागे भारतवासियोंको जितना आश्चर्य हुआ है, उतना और किसको होगा बताओ? और मजा यह कि जिस समय यह परिवर्तन चल रहा था, उस समय हमारे देशका बहु-प्रशंसित Law and Order (क़ानून और व्यवस्था) नहीं था।

तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि यहांके सर्वसाधारणकी शिक्षाका

चेहरा देखनेके लिए मुझे दूर नहीं जाना पड़ा, या स्कूलके इन्स्पेक्टरकी तरह हिज्जे पूछते समय यह नहीं देखना पड़ा कि ये "राणा" और "वाणी" में मूर्धन्य 'ण' लगाते हैं या दन्ती। एक दिन शामको मास्को शहरमें एक मकानपर गया। वह किसानोंके रहनेका घर था, गाँवसे जब किसी कामसे वे शहरमें आते हैं तो सस्तेमें उसी मकानमें उन्हें रहने दिया जाता है। उन लोगोंसे मेरी बातचीत हुई थी। इस तरहकी बातें जब हमारे देशके किसानोंसे होंगी, उस दिन हम साइमन-कमीशनका जवाब दे सकेंगे।

और कुछ नहीं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभी कुछ हो सकता था, मगर हुआ नहीं—न सही, हमें मिला है Law and Order। हमारे यहाँ साम्प्रदायिक लड़ाइयाँ होती रहती हैं, और इसके लिए हमारी खास तौरसे बदनामी की जाती है—यहाँ भी यहूदी सम्प्रदायके साथ ईसाई सम्प्रदायकी लड़ाई हमारे ही देशके आधुनिक उपसर्गकी तरह अत्यन्त कुत्सित और बड़े ही जंगली ढंगसे होती थी—शिक्षा और शासनके द्वारा एकदम जड़से उसका नाश कर दिया गया है। कितनी ही बार मैंने सोचा है कि साइमन-कमीशनको भारतमें जानेसे पहले एक बार रूस घूम जाना उचित था।

तुम-जैसी भद्र-महिलाको साधारण भद्रता-पूर्ण चिट्ठी न लिखकर इस तरहकी चिट्ठी क्यों लिख रहा हूं, इसका कारण सोचोगी तो समझ जाओगी कि देशकी दशाने मेरे मनमें



रवीन्द्रनाथके लिए कवि-संवर्द्धना सभा

आन्दोलन मचा रखा है। जालियानवाला बागके उपद्रवके बाद और भी एक बार मेरे मनमें ऐसी अशान्ति हुई थी। ढाकेके उपद्रवके बाद आज फिर उसी तरह दुःखित हो रहा हूं। उस घटनापर सरकारी पलस्तर चढ़ा है, मगर इस तरहके सरकारी पलस्तरकी क्या क़ीमत है, सो राजनीतिज्ञ समझते हैं। ऐसी घटना अगर सोवियट रूसमें होती, तो किसी भी पलस्तरसे उसका कलंक नहीं ढक सकता था। सुधीन्द्र—हमारे देशके राष्ट्रीय आन्दोलनपर जिसकी कभी भी किसी तरहकी श्रद्धा नहीं थी—उसने भी अबकी बार मुझे ऐसी चिट्ठी लिखी है, जिससे पता चलता है कि सरकारी धर्मनीतिके प्रति धिक्कार आज हमारे देशमें कहाँ तक बढ़ गया है। खैर, आज तुम्हारी चिट्ठी अधूरी ही रही—कागज और समय खतम हो आया, दूसरी चिट्ठीमें इसके अपूर्ण अंशको पूरा करूँगा।

२८ सितम्बर, १९३०

५

बर्लिन, जर्मनी

मास्कोसे तुम्हें मैं एक बड़ी चिट्ठीमें रूसके बारेमें अपनी धारणा लिख चुका हूं। वह चिट्ठी अगर मिल गई होगी, तो रूसके बारेमें कुछ बातें तुम्हें मालूम हो गई होंगी।

यहाँ किसानोंकी सर्वाङ्गीन उन्नतिके लिए कितना काम किया जा रहा है, उसीका वर्णन थोड़ासा लिखा था। हमारे देशमें जिस श्रेणीके लोग मूक और मूढ़ हैं, जीवनके सम्पूर्ण सुयोगोंसे वंचित होकर जिनका मन भीतर और बाहरकी दीनतासे बैठ गया है, यहाँ उसी श्रेणीके लोगोंसे जब मेरा परिचय हुआ, तब मैं समझ सका कि समाजके अनादरसे मनुष्यकी चित्त-सम्पद् कहाँ तक लुप्त हो सकती है—कैसा असीम उसका अपव्यय है, कैसा निष्ठुर उसका अविचार है!

मास्कोमें एक कृषि-भवन देखने गया था। यह संस्था उनकी क्लब-सी है। रूसके समस्त छोटे-बड़े शहरों और ग्रामोंमें इस तरहके भवन बने हुए हैं। इन सब स्थानोंमें कृषि-विद्या समाज-तत्त्व आदि विषयोंपर उपदेश दिये जाते हैं; जो निरक्षर हैं, उनके लिए पढ़ने-लिखनेका इन्तजाम किया जाता है, और खास-खास क्लासोंमें किसानोंको वैज्ञानिक ढंगसे खेती करनेकी शिक्षा दी जाती है—हर तरहसे यह विषय उन्हें समझाया जाता है। इसी तरह प्रत्येक भवन प्राकृतिक और सामाजिक—सब तरहके शिक्षणीय विषयोंकी म्यूजियम है। इसके अलावा इनमें किसानोंको और भी सब तरहके उपयोगी परामर्श दिये जानेकी व्यवस्था है।

किसान जब किसी कामसे गाँवसे शहरमें आते हैं, तो बहुत ही कम खर्चमें कम-से-कम तीन सप्ताह तक इस तरहके मकानोंमें रह सकते हैं। इस बहु-व्यापक संस्थाके द्वारा सोवियट-सरकारने ऐसे किसानोंके—जो किसी समय बिलकुल निरक्षर थे—चित्तको

उद्बोधित करके उनमें समाजव्यापी नया जीवन ला देनेकी प्रशंसनीय नींव डाल दी है।

भवनमें घुसते ही क्या देखता हूं, कोई भोजनागारमें बैठे भोजन कर रहे हैं, तो कोई पाठागारमें बैठे अखबार पढ़नेमें लगे हुए हैं। ऊपरके एक कमरेमें जाकर मैं बैठा—वहां सब आकर इकट्ठे हुए। उनमें अनेक स्थानोंके आदमी थे; कोई बहुत दूरका है, तो कोई नजदीकका। उनका स्वभाव सरल और स्वाभाविक है, किसी तरहका संकोच नहीं।

पहले स्वागत और परिचयके लिए भवनके परिदर्शकने कुछ कहा—मैंने भी कुछ कहा। उसके बाद उन लोगोंने मुझसे प्रश्न करना शुरू कर दिया।

पहला प्रश्न, उनमें से एकने किया—"भारतमें हिन्दू-मुसलमानोंमें झगड़ा क्यों होता है?"

मैंने कहा—"जब मेरी कम उम्र थी, कभी इस तरहकी बर्बरता नहीं देखी। उस समय गांव और शहर—सर्वत्र दोनों सम्प्रदायोंमें सौहार्दकी कमी नहीं थी। परस्पर एक-दूसरेके क्रिया-कांडोंमें भाग लिया करते थे, जीवन-यात्राके सुख-दुःखोंमें दोनों एक थे। अब जो बीच-बीचमें कुत्सित घटनाएं होती दिखाई देती हैं, वे देशके राष्ट्रीय आन्दोलनके बादसे शुरू हुई हैं। परन्तु, पड़ोसियोंमें परस्पर इस प्रकारके अमानुषिक दुर्व्यवहारके बाहे कारण चाहे जो हों, इसका मूल कारण है सर्वसाधारणमें अशिक्षा। जितनी शिक्षाके द्वारा इस तरहकी दुर्बुद्धि दूर हो

सकती है, उतनी शिक्षाका प्रचलन आज तक वहां नहीं हुआ। तुम्हारे यहां जो कुछ देखा, उससे मैं विस्मित हो गया हूं।"

प्रश्न—"तुम तो लेखक हो, अपने यहांके किसानोंके बारेमें कुछ लिखा है? भविष्यमें उनकी क्या गति होगी?"

उत्तर—"सिर्फ लिखा ही नहीं, उनके लिए मैंने काम भी छेड़ दिया है। अकेलेसे जितना सम्भव है, उतनेसे उनकी शिक्षाका काम चलाता हूं, गाँवोंकी उन्नतिके लिए उनकी सहायता करता हूं। परन्तु तुम्हारे यहां जो शिक्षाका विराट आयोजन थोड़े ही समयमें हुआ है, उसकी तुलनामें मेरा वह उद्योग बहुत ही मामूली है।"

प्रश्न—"हमारे यहां जो किसानोंके संगठनका उद्योग हो रहा है, उस सम्बन्धमें तुम्हारा क्या मत है?"

उत्तर—"मत देने योग्य मेरा अनुभव नहीं हुआ है, मैं तुम्हीं लोगोंसे सुनना चाहता हूं। मैं यह जानना चाहता हूं कि इसमें तुम लोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई जबरदस्ती की जाती है या नहीं?"

प्रश्न—"क्या भारतमें साधारणतः सब-कोई यहांके संगठन तथा अन्य सब उद्योगोंके विषयमें कुछ जानकारी नहीं रखते?"

उत्तर—"जानने लायक शिक्षा बहुत कम लोगोंमें है। इसके सिवा तुम्हारे यहांके समाचार कितने ही कारणोंसे दब जाया करते हैं। और जो-कुछ उनके कानों तक पहुंचता है, वह सब विश्वास-योग्य नहीं।"

प्रश्न—"हमारे यहां ये जो किसानोंके लिए भवनोंकी व्यवस्था है, इस सम्बन्धमें क्या पहले आप कुछ नहीं जानते थे?"

उत्तर —"तुम लोगोंके हितके लिए क्या-क्या हो रहा है, यह मैंने मास्कोमें आकर देखा और जाना। कुछ भी हो, अब मेरे प्रश्नोंका उत्तर तुम लोग दो।—किसान प्रजाके लिए इस संगठनके बारेमें तुम्हारा क्या मत है, तुम्हारी इच्छा क्या है ?"

एक युवक किसान, जो यूक्रेन प्रदेशसे आया है, बोला— "दो वर्ष हुए एक ऐकत्रिक (संगठित) कृषि-क्षेत्रकी स्थापना हुई है, मैं उसमें काम करता हूं। इस खेतीमें फलोंकी फसलके लिए बाग हैं, वहांसे फल और साग-सब्जी सब कारखानोंको भेजी जाती है। वहाँ वह टीनके डब्बोंमें पैक होती है। इसके सिवा बड़े बड़े खेत हैं, वहाँ गेहूंकी खेती होती है। आठ घंटे हमें काम करना पड़ता है, हर पाँचवें दिन हमारी छुट्टी रहती है। हमारे पड़ोसी जितने भी किसान अपनी खेती आप करते हैं, उनकी अपेक्षा हमारे यहाँ कम-से-कम दूनी फसल होती है।

"लगभग प्रारम्भमें ही, हमारी संगठित खेतीमें डेढ़ सौ किसानोंके खेत मिलाये गये थे। १६२६ में आधे किसानोंने अपने खेत वापस ले लिये। उसकी वजह यह हुई कि सोवियट कम्यून दलके प्रधान मंत्री स्टैलिनके उपदेशानुसार हमारे कर्मचारियोंने ठीक तरहसे काम नहीं किया। उनका मत है कि समष्टिवाद (कम्यूनिज्म) की मूल नीति है समाजका समष्टिरूपसे स्वेच्छाकृत संगठन। परन्तु बहुत जगह ऐसा हुआ कि कार्यकर्ता इस बातको भूल गये, जिससे शुरुआतमें बहुतसे किसानोंने संगठित कृषि-समन्वयको छोड़ दिया। उसके बाद क्रमशः उनमें से चौथाई आदमी फिर

आकर सम्मिलित हुए। अब हमें पहलेसे भी अधिक बल मिल गया है। अब हम संगठित किसानोंके रहनेके लिए नये मकान हैं, नई भोजनशालाएँ हैं और नये स्कूल खुल गये हैं।"

इसके बाद साइबिरियाकी एक किसान स्त्रीने कहा—"संगठित खेतीके काममें मैं लगभग दस वर्षसे हूं। एक बात याद रखें, संगठित कृषि-क्षेत्र (collective farm) के साथ नारी-उन्नतिके उद्यमका घनिष्ट सम्बन्ध है। आज दस वर्षके अंदर यहाँ किसान स्त्रियोंमें काफी परिवर्तन हो गया है। अपनेपर उन्हें बहुत कुछ भरोसा हो गया है। जो स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं और संगठित खेतीमें जो बाधक हैं, उनमें भी हम संगठित स्त्रियां धीरे-धीरे जीवनका संचार कर रही हैं। हमने संगठित स्त्रियोंका दल बना लिया है, भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें वे भ्रमण करती हैं और स्त्रियोंमें काम करती हैं—मानसिक और आर्थिक उन्नतिके लिए संगठन कैसा लाभदायक है, इस बातको वे समझाया करती हैं। संगठित दलकी किसान स्त्रियोंकी जीवन-यात्राको सहज बनानेके लिए प्रत्येक संगठित खेतमें बच्चोंके लालन-पालनके लिए एक-एक शिशु-पालनागार, शिशु-विद्यालय और साधारण पाकशालाएँ स्थापित की गई हैं।"

सुखोज प्रान्तमें जाइगान्ट नामका एक प्रसिद्ध सरकारी कृषि-क्षेत्र है। वहाँके एक किसानने, रूसमें संगठित खेती आदिका कैसा विस्तार हो रहा है, इस विषयमें मुझसे कहा—"हमारे इस खेतकी जमीनका परिमाण एक लाख हेक्टर (hectares) है। पिछली साल वहाँ तीन हजार किसान काम करते थे। इस

साल संख्या कुछ घट गई है, मगर फसल पहलेसे कुछ बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं। क्योंकि जमीनमें विज्ञानके अनुसार खाद देने और मशीनके हलसे काम लेनेकी व्यवस्था हो गई है। इस तरहके हल हमारे यहाँ तीन सौसे ज्यादा होंगे। प्रतिदिन आठ घंटे काम करनेकी मियाद है। जो उससे ज्यादा काम करते हैं, उन्हें ऊपरी पारिश्रमिक मिलता है। जाड़ोंके दिनोंमें खेतीका काम घट जाता है, तब किसान शहरोंमें जाकर मकान बनाने और सड़क मरम्मत करने आदिका काम करते हैं। उस अनुपस्थितिके समय भी उन्हें वेतनका तिहाई हिस्सा मिला करता है और उनके परिवारके लोगोंको उन्हीं निर्दिष्ट घरोंमें रहने दिया जाता है।"

मैंने कहा—"संगठित खेतीमें अपनी निजी सम्पत्ति मिला देनेके बारेमें तुम लोगोंकी कोई आपत्ति या सम्मति हो, तो मुझे साफ-साफ बताओ।"

परिदर्शकने प्रस्ताव किया कि हाथ उठवाकर मत लिया जाय। देखा गया कि ऐसे भी बहुतसे आदमी हैं, जिनकी सम्मति नहीं है। असम्मतिका कारण क्या है, पूछनेपर वे अच्छी तरह समझा नहीं सके। एकने कहा—"मैं अच्छी तरह समझ नहीं सका।" साफ समझमें आ गया कि असम्मतिका कारण मानव-चरित्रमें ही मौजूद है। अपनी सम्पत्तिपर अपनी ममता—यह तर्कका विषय नहीं है, यह हमारा संस्कार है। अपनेको हम प्रकट करना चाहते हैं, सम्पत्ति उस प्रकाशनका एक उपाय है।

उससे भी बड़ा उपाय जिनके हाथमें है, वे महान हैं; वे सम्पत्तिकी पर्वाह नहीं करते। सब-कुछ खो देनेका काम पड़े तो उसमें भी उन्हें कोई बाधा नहीं। परन्तु साधारण मनुष्यके लिए अपनी सम्पत्ति अपने व्यक्ति-रूपकी भाषा है—उसके खो जानेपर वह गूँगा-सा बन जाता है। सम्पत्ति यदि सिर्फ अपनी जीविकाके लिए ही होती, आत्म-प्रकाशके लिए न होती, तो युक्तियोंसे समझाना सहज हो जाता कि उसके त्यागसे ही जीविकाकी उन्नति हो सकती है। आत्म-प्रकाशके उच्चतम उपाय—जैसे बुद्धि, गुण, स्वभाव—कोई किसीसे ज़बरदस्ती छीन नहीं सकता; सम्पत्ति छीनी जा सकती है, धोखेसे उड़ाई जा सकती है। इसीलिए सम्पत्तिके बाँट-बँटवारा और भोगके अधिकारके लिए समाजमें इतनी निष्ठुरता, इतनी धोखेबाज़ी और इतना अन्तहीन विरोध है।

मेरी तो धारणा है कि इसका एक ही मध्यम दरजेका समाधान हो सकता है, वह यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रहे, पर उसके भोगकी एकान्त या अत्यधिक स्वतंत्रताको सीमित कर दिया जाय। उस सीमाके बाहरका अवशिष्ट अंश सर्वसाधारणके लिए निकल जाना चाहिए। फिर सम्पत्तिका ममत्व लालच, धोखेबाज़ी या निष्ठुरता तक नहीं पहुंचेगा।

सोवियटोंने इस समस्याका समाधान करते हुए उसे अस्वीकार करना चाहा है। इसके लिए ज़बरदस्तीकी हद नहीं। यह बात तो कही ही नहीं जा सकती कि मनुष्यकी स्वतंत्रता नहीं रहेगी, बल्कि यह कहा जा सकता है कि स्वार्थपरता नहीं

रहेगी। अर्थात् अपने लिए कुछ तो अपना होना ही चाहिए, परन्तु बाकी दूसरोंके लिए होना चाहिए। स्व और पर दोनोंको स्वीकार करके ही उसका समाधान हो सकता है। दोनोंमें से किसी एकको निकाल देनेसे मानव-चरित्रका सत्यसे युद्ध छिड़ जाता है। पाश्चात्य महादेशके मनुष्य 'जोर' पर अत्यधिक विश्वास रखते हैं। जिस क्षेत्रमें जोरको दरअसल ज़रूरत है, वहाँ वह निःसन्देह बड़े कामकी चीज हैं, पर अन्यत्र उससे विपत्तिकी ही सम्भावना है। सत्यके बलको शारीरिक बलसे जितनी ही प्रबलतासे मिलाया जायगा, एक दिन उतनी ही प्रबलतासे उसका विच्छेद होगा-ही-होगा।

मध्य-एशियाके बास्किर रिपब्लिक (Bashkir Republic) के एक किसानने कहा—"इस समय भी मेरा अलग खेत है, मगर फिर भी मैं पासके संगठित कृषि-क्षेत्रमें शीघ्र ही शामिल हो जाऊंगा। क्योंकि मैं देख रहा हूं कि अलग खेती करनेकी अपेक्षा संगठित खेतीमें बहुत अच्छी और ज्यादा फसल होती है। अब कि अच्छी तरह खेती करनेके लिए मशीनकी जरूरत पड़ती ही है—और छोटी खेती करनेवालोंके लिए उसका खरीदना असम्भव है। इसके सिवा, छोटी-छोटी जमीनोंमें मशीनके हलसे काम लेना असम्भव है।"

मैंने कहा—"कल एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारीसे बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा—'स्त्रियों और बच्चोंके लिए हर तरहकी सुविधाएँ जैसे सोवियट-सरकार द्वारा दी गई हैं, उतनी और कहीं भी

नहीं दी गई।' मैंने उनसे कहा—'आप लोग शायद पारिवारिक दायित्वको सरकारी दायित्वमें परिणत करके परिवारकी सीमाका लोप कर देना चाहते हैं।' उन्होंने कहा—'वही हम लोगोंका आसन्न अभिप्राय हो, सो बात नहीं—परन्तु बच्चोंके दायित्वको व्यापक बनाकर यदि स्वभावतः ही किसी दिन पारिवारिक लकीर मिट जाय, तो यही प्रमाणित होगा कि समाजमें पारिवारिक युग संकीर्णता और असम्पूर्णताके कारण ही नवयुगके विस्तारमें अपने-आप ही लुप्त हुआ है।' कुछ भी हो, इस विषयमें तुम लोगोंकी क्या राय है, मैं जानना चाहता हूं। क्या तुम समझते हो कि एकत्रीकरणकी नीतिका पालन करते हुए तुम्हारा परिवार ज्यों-का-त्यों बना रह सकता है ?"

उस यूक्रेनियर युवकने कहा—"हमारी नई समाज-व्यवस्थाने पारिवारिकतापर कैसा प्रभाव डाला है, हम अपनी तरफसे उसका एक दृष्टान्त देते हैं। जब मेरे पिता जीवित थे, जाड़ोंके छै महीने वे शहरमें काम करते थे और गरमियोंके छः महीने गाँवमें रहते थे—और मैं उस समय अपने भाई-बहनोंके साथ किसी धनिकके यहाँ पशु चरानेकी नौकरी किया करता था। पिताके साथ मेरी भेंट-मुलाकात अक्सर नहीं होती थी; पर अब ऐसा विच्छेद नहीं होता। शिशु-विद्यालयसे मेरे बच्चे रोज़ घर आ जाते हैं, और रोज़ ही मैं उनसे मिलता हूं।"

एक किसान स्त्रीने कहा—"बच्चोंकी देखरेख और शिक्षाकी स्वतंत्र व्यवस्था होनेसे अब पति-पत्नीमें झगड़ा-टंटा बहुत कम होता है। इसके सिवा, लड़कोंके प्रति पिता-माताका दायित्व कितना है, इस बातको वे अच्छी तरह सीख सकते हैं।"

एक कर्केशीकी युवतीने दुभाषियेसे कहा—"कविसे कहो कि हम कर्केशी रिपब्लिकके निवासी इस बातका अच्छी तरह अनुभव कर रहे हैं कि अक्टूबरकी क्रान्तिके बादसे हम लोग वास्तवमें स्वाधीन और सुखी हुए हैं। हम लोग नये युगकी सृष्टि कर रहे हैं, उसके कठिन दायित्वको हम अच्छी तरह समझते हैं, उसके लिए हम बड़ेसे बड़ा त्याग स्वीकार करनेको राजी हैं। कविको समझा दो कि सोवियट-सम्मेलनके विचित्र जातिके लोग उनके जरिये भारतवासियोंसे अपनी आन्तरिक सहानुभूति प्रकट करना चाहते हैं। मैं कह सकती हूं कि अगर सम्भव होता तो मैं अपना घर-द्वार, बाल-बच्चे—सब-कुछ छोड़कर भारतवासियोंकी सहायताके लिए चल देती।"

इनमें एक ऐसा युवक था, जिसका चेहरा मंगोलीय ढंगका था। उसके बारेमें मैंने पूछा, तो जवाब मिला—"यह खिरगिज-जातिके किसानका लड़का है, मास्को आकर कपड़े बुननेका काम सीख रहा है। तीन वर्ष बाद इंजीनियर होकर अपने रिपब्लिकको लौट जायगा—क्रान्तिके बाद वहाँ एक बड़ा कारखाना खुला है, उसीमें यह काम करेगा।"

एक बातका खयाल रखना, यहाँ इन नाना जातियोंके लोगोंको कल-कारखानोंका रहस्य जाननेके लिए जो इतना ज्यादा उत्साह और इतना अच्छा मौका मिला है, उसका एकमात्र कारण है व्यक्तिगत स्वतंत्र स्वार्थ-साधनके लिए मशीनोंका व्यवहार न होना। चाहे जितने आदमी इस कामको सीखें, उसमें सबका ही उपकार है,

सिर्फ धनियोंका नहीं। हम अपने लोभके कारण मशीनोंको दोष देते हैं, नशेबाज़ीके लिए दंड देते हैं ताड़वृक्षको,—मास्टर जैसे अपनी असमर्थताके कारण विद्यार्थीको बेंचपर खड़ा कर देता है।

उस दिन मास्कोके कृषि-भवनमें मैं अपनी आँखोंसे स्पष्ट देख आया हूं कि दस वर्षके अंदर रूसके किसान भारतके किसानोंको कितना पीछे छोड़ गये हैं। उन्होंने सिर्फ किताबें पढ़ना ही नहीं सीखा, उनका मन बदल गया है—वे आदमी बन गये हैं। सिर्फ शिक्षाकी बात कहनेसे उसमें सब बातें नहीं आ जातीं, खेतीकी उन्नतिके लिए देश-भरमें व्याप्त जो बड़ा-भारी उद्यम है, वह भी असाधारण है। भारतवर्षकी तरह यह देश भी कृषि-प्रधान देश है, इसलिए कृषि-विद्याको जहाँ तक सम्भव हो, आगे बिना बढ़ाये देशवासियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। ये उस बातको भूले नहीं हैं। ये अत्यन्त दुःसाध्यको साध्य करनेमें लगे हुए हैं।

सिविल-सर्विसके अफसरोंको मोटी-मोटी तनख्वाहें देकर ये आफिस चलानेका काम नहीं कर रहे हैं; जो योग्य हैं, जो वैज्ञानिक हैं, वे सबके सब काममें जुट गये हैं। इन्हीं दस वर्षोंमें इनके कृषिचर्चा-विभागकी जैसी उन्नति हुई है, उसकी ख्याति संसार-भरके वैज्ञानिकोंमें फैल चुकी है। युद्धके पहले इस देशमें बीज छाँटनेकी कोई कोशिश ही नहीं की जाती थी। आज लगभग तीन करोड़ मन छँटे हुए बीज इनके हाथमें हैं। इसके सिवा, नये अनाजोंका प्रचलन सिर्फ इनके कृषि-कालेजके आँगनमें ही सीमित नहीं, बल्कि बड़ी तेजीके साथ सारे देशमें उनका प्रचार किया जा रहा है। कृषि-सम्बन्धी

बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक परीक्षाशालाएँ आजरबाइजन, उजबेकिस्तान, जार्जिया, यूक्रेन आदि रूसके कोने-कोनेमें स्थापित हो गई हैं।

रूसके समस्त देश-प्रदेशोंको, जाति-उपजातियोंको समर्थ और शिक्षित बना डालनेके लिए इतना बड़ा सर्वव्यापी असाधारण अथक उद्योग भारतकी ब्रिटिश प्रजाकी सुदूर कल्पनाके परे है। इस बातको मैं यहाँ आनेसे पहले सोच ही न सका था कि इतना आगे बढ़ जाना भी सम्भव है! क्योंकि बचपनसे हम जिस Law and Order की आबहवामें पले हैं, वहाँ ऐसे दृष्टान्त देखे ही नहीं जो इसके पास तक फटक सकते हों।

अबकी बार इंग्लैंड रहते हुए मैंने एक अंग्रेजसे पहले-पहल यह सुना था कि सर्वसाधारणके हितके लिए इन लोगोंने कैसा असाधारण आयोजन किया है। सब आँखोंसे देखा—देखा कि इनके राष्ट्रमें जाति-वर्णका विचार तो ज़रा भी नहीं है। सोवियट-शासनके अन्तर्गत लगभग बर्बर प्रजाओंमें शिक्षा-प्रचारके लिए इन लोगोंने जिस उत्कृष्ट पद्धतिकी व्यवस्था की है, भारतके सर्वसाधारणके लिए वह दुर्लभ है। फिर भी, अशिक्षाके अनिवार्य फल-स्वरूप हमारी बुद्धि और हमारे चरित्रमें जो दुर्बलता है, हमारे व्यवहारमें जो मूढ़ता है, देश-विदेशोंमें भी उसकी बदनामी हो रही है। अंग्रेजोमें एक कहावत है 'जिस कुत्तेको फाँसी देनी हो, उसकी बदनामी करनेसे काम सहज हो जाता है।' जिससे बदनामी कभी मिट ही न सके, ऐसा उपाय करनेसे यावज्जीवन कैद और फाँसी दोनोंको मिला लिया जा सकता है।

१ अक्टोबर, १९३०

६

बर्लिन, जर्मनी

रूस घूम आया, अब अमेरिकाकी ओर जा रहा हूं, इतनेमें तुम्हारी चिट्ठी मिली। रूस गया था उनकी शिक्षापद्धति देखनेके लिए। देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। आठ ही वर्षके अंदर शिक्षाके जोरसे लोगोंके मनका चेहरा बदल दिया है। जो मूक थे, उन्हें भाषा मिल गई है; जो मूढ़ थे, उनके मनपरसे पर्दा हट गया है; जो दुर्बल थे, उनमें आत्मशक्ति जाग्रत हो गई है; जो अपमानके नीचे दबे हुए थे, आज वे समाजकी अन्ध-कोठरीमेंसे निकलकर सबके साथ समान आसनके अधिकारी हो गये हैं। इतने ज़्यादा आदमियोंका इतनी तेजीसे ऐसा भावान्तर हो जायगा, इस बातकी कल्पना करना कठिन है। ज़मानेसे सूखी पड़ी हुई नदीमें शिक्षाकी बाढ़ आई है—देखकर हृदय पुलकित हो जाता है। देशमें इस छोरसे लेकर उस छोर तक सर्वत्र जाग्रति है। इनकी एक नई आशाकी वीथिका मानो दिगन्त पार हो गई है—जीवनका वेग सर्वत्र पूरी मात्रामें मौजूद है।

ये तीन चीजोंको लेकर अत्यन्त व्यस्त हैं। शिक्षा, कृषि और यंत्र। इन तीन रास्तोंसे सम्पूर्ण जातियोंको एक करके हृदय,

अन्न और कर्मशक्तिको सम्पूर्णता देनेके लिए ये तपस्या कर रहे हैं। हमारे देशकी तरह यहांके लोग भी कृषिजीवी हैं। परन्तु हमारे यहांकी कृषि एक ओरसे मूढ़ है और दूसरी ओरसे असमर्थ—शिक्षा और शक्ति दोनों ही से वंचित। उसका एकमात्र क्षीण आश्रय है प्रथा—बाप-दादों के ज़मानेके नौकरकी तरह वह काम करती है कम और कर्तृत्व करती है ज्यादा। जो उसे मानकर चलेगा, वह आगे बढ़ ही नहीं सकता। और आगे बढ़ना ही है, क्योंकि सैकड़ों वर्षोंसे वह लंगड़ाता हुआ चल रहा है।

शायद हमारे देशमें किसी समय गोवर्धनधारी कृष्ण ही थे कृषिके देवता, ग्वालोंके घर उनका विहार होता था; उनके भाई थे बलराम, हलधर। वह हल-अस्त्र ही मनुष्यके यन्त्रबलका प्रतिनिधि है। यन्त्रने कृषिको बल दिया है। आज हमारे कृषिक्षेत्रोंमें कहीं भी बलरामके दर्शन नहीं होते—वे लज्जित हैं—जिस देशमें उनके अस्त्रमें तेज है, वे वहीं—सागर-पार—चले गये हैं। रूसकी कृषिने बलरामको बुलाया है, देखते-देखते वहांके केदारखंड अखंड होते जा रहे हैं, उनके नवीन हलके स्पर्शसे अहल्या-भूमिमें प्राणोंका संचार हो गया है।

एक बात हमें याद रखनी चाहिए, वह यह कि रामका ही हलयन्त्र-धारी रूप है बलराम।

सन् १९१९ में यहां जो क्रान्ति हुई थी, उसके पहले इस देशमें फी-सदी निन्नानवे किसानोंने आधुनिक हलयन्त्र आँखोंसे देखा भी नहीं था। वे सब हिन्दुस्तानी किसानोंकी तरह एकदम कमजोर—

दुर्बल राम थे, भूखे थे, निःसहाय थे, मूक थे। आज देखते-देखते इनके खेतोंमें हजारोंकी संख्यामें हलयन्त्र काम कर रहे हैं। पहले ये लोग थे बेचारे—गरीब, आज ये हैं बलराम।

केवल यंत्रोंसे ही काम नहीं चल सकता, यंत्री (संचालक) यदि मनुष्य न हुए। इनके खेतकी कृषि मनकी कृषिके साथ-ही-साथ बढ़ती जा रही है। यहां शिक्षाका काम और उसकी पद्धति सजीव है। मैं बराबर कहता आया हूं कि शिक्षाको जीवन-यात्राके साथ-ही-साथ चलाना चाहिए। उससे अलग कर लेनेसे वह भंडारकी चीज बनी रहती है, खाकर पेट भरनेकी चीज नहीं बनती।

यहां आकर देखा कि इन लोगोंने शिक्षामें प्राण भर दिये हैं। इसका कारण यह है कि इन्होंने घर-गिरस्तीकी सीमासे स्कूलकी सीमाको अलग नहीं रखा है। ये जो-कुछ सिखाते हैं, वह पास करने या पंडित बनानेके लिए नहीं, बल्कि सर्वतोभावसे मनुष्य बनानेके लिए ही सिखाते हैं। हमारे देशमें विद्यालय हैं—परन्तु विद्यासे बुद्धि बड़ी होती है, संवादसे शक्ति बड़ी होती है—पुस्तकोंकी पंक्तियोंका बोझ हमपर ऐसा लद जाता है कि फिर हममें मनको ठीक रास्तेपर चलानेकी शक्ति ही नहीं रह जाती। कितनी ही बार कोशिश की है अपने यहांके छात्रोंसे बातचीत करनेकी, पर देखा कि उनके मनमें किसी तरहका जिज्ञासु-भाव ही नहीं है। जाननेकी इच्छाके साथ जाननेका जो योग है, वह योग उनका टूट गया है। उन्होंने कभी जानना सीखा ही नहीं—शुरूसे ही उन्हें पुराने नियमोंके अनुसार शिक्षा दी जाती है, उसके बाद उस सीखी हुई



मास्कोके कला-भवनमें रवीन्द्रनाथका स्वागत

विद्याको दुहराकर वे परीक्षाके मार्क इकट्ठे करनेमें लग जाते हैं।

मुझे याद है, जब दक्षिण-अफ्रिकासे लौटकर महात्माजीके छात्र शान्तिनिकेतन आये थे, तब एक दिन उनमेंसे एकसे मैंने पूछा था "हमारे छात्रोंके साथ पारुल-वन देखने जाना चाहते हो?" उसने कहा—"मालूम नहीं।" इस बारेमें उसने अपने दलपतिसे पूछना चाहा। मैंने कहा—"पूछना पीछे, पहले यह बताओ कि तुम्हारी जानेकी इच्छा है या नहीं?" उसने कहा—"मैं नहीं जानता।" कहनेका मतलब यह कि वह छात्र स्वयं किसी विषयकी कुछ इच्छा नहीं रखता—उसे चलाया जाता है, वह चलता है; अपने आप वह कुछ सोचता ही नहीं।

इस तरहके मामूली विषयोंमें मनकी इतनी जड़ता यद्यपि साधारणतः हमारे छात्रोंमें नहीं पाई जाती, किन्तु यह निश्चित है कि और भी जरा कठिन और विचारणीय विषय अगर छेड़ा जाय, तो उसके लिए इनका मन जरा भी तैयार न होगा। ये सिर्फ इसी बातकी बाट देखा करते हैं कि हम उनके ऊपर रहकर क्या कहते हैं, उसीको सुनें। संसारमें ऐसे निश्चेष्ट मनके समान निरुपाय मन और क्या हो सकता है।

यहां शिक्षा-पद्धतिके सम्बन्धमें अनेक तरहकी परीक्षाएँ हो रही हैं, उसका विस्तृत विवरण फिर कभी लिखूंगा। शिक्षाविधिके सम्बन्धमें रिपोर्ट और पुस्तकोंसे बहुत-कुछ जाना जा सकता है, किन्तु शिक्षाका चेहरा जो मनुष्यके भीतर प्रत्यक्ष दिखाई देता है,

वही सबसे बढ़कर कामकी चीज़ है। उस दिन उसे मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। 'पायोनियर्स कम्यून' नामसे इस देशमें जो आश्रम स्थापित हुए हैं, उन्हींमें से एकको देखने गया था। हमारे शान्तिनिकेतनमें जैसे ब्रतीबालक और ब्रतीबालिकाएँ हैं, इनकी पायोनियर्स संस्थाएँ लगभग उसी ढंगकी हैं।

मकानमें प्रवेश करते ही देखा कि मेरे स्वागतके लिए द्वारकी सीढ़ियोंपर दोनों किनारे बालक-बालिकाएँ पंक्तिवार खड़े हैं। भीतर घुसते ही वे मेरे चारों ओर सटकर बैठ गये, जैसे मैं उनका अपना ही कोई हूं। एक बात याद रखना, ये सभी बिना माता-पिताके अनाथ हैं। ये जिस श्रेणीसे आये हैं, एक दिन ऐसा था जब कि उस श्रेणीके लोग किसीसे किसी तरहका सम्मानका दावा नहीं कर सकते थे, दरिद्रोंकी तरह बहुत नीच वृत्तिसे अपनी गुज़र किया करते थे। इनके मुँहकी ओर निहारकर देखा, तो मालूम हुआ कि ये अनादर और असम्मानके कुहरेसे ढके हुए चेहरे ही नहीं हैं। न संकोच है, न जड़ता। इसके सिवा मालूम हुआ, मानो सभीके हृदयमें एक प्रकारका प्रण है, सामने एक तरहका कार्यक्षेत्र है, मानो ये हमेशा तैयार-से रहते हैं, किसी तरफसे असावधानी या शिथिलता है ही नहीं।

स्वागतके उत्तरमें मैंने भी कुछ कहा। उसीके प्रसंगमें उनमेंसे एक लड़केने कहा—"पर-श्रमजीवी (Bourgeoisie) अपना व्यक्तिगत मुनाफा चाहते हैं, पर हम चाहते हैं देशके ऐश्वर्यमें सब आदमियोंका समान स्वत्व रहे। इस विद्यालयमें हम लोग उसी नीतिपर चलते हैं!"

एक लड़कीने कहा– "हम अपनेको स्वयं चलाती हैं। हम सब मिलकर सलाह करके काम करती हैं; जो सबके लिए अच्छा है, वही हमारे लिए ठीक है।"

एक दूसरे लड़केने कहा "हम ग़लती कर सकते हैं, यदि चाहें तो, जो हमसे बड़े हैं, उनकी सलाह लिया करते हैं। जरूरत पड़नेपर छोटे लड़के-लड़कियाँ बड़े लड़के-लड़कियोंसे सलाह लेते हैं, और उन्हें सलाहकी जरूरत हो तो वे शिक्षकोंके पास जाते हैं। हमारे देशके शासनतंत्रका यही विधान है। हम यहाँ उसी विधानकी चर्चा और अनुशीलन किया करते हैं।"

इससे समझ सकते हो कि इनकी शिक्षा सिर्फ किताबोंमें ही सीमित नहीं है। अपने व्यवहारको, अपने चरित्रको इन्होंने एक बड़ी लोकयात्राके अनुकूल बना डाला है। वह विषय इनका एक प्रण बन गया है, और उस प्रणकी रक्षा करनेमें ही ये अपना गौरव समझते हैं।

अपने यहाँके लड़के-लड़कियों और शिक्षकोंसे मैंने बहुत बार कहा है कि लोकहित और स्वायत्तशासनके जिस दायित्व-बोधकी आशा हम सम्पूर्ण देशसे रखते हैं, शान्तिनिकेतनकी छोटीसी सीमाके भीतर हम उसीका एक सम्पूर्ण रूप देखना चाहते हैं। वर्तमान व्यवस्था छात्र और शिक्षकोंकी सम्मिलित स्वायत्तशासनकी व्यवस्था होनी चाहिए—उस व्यवस्थासे जब यहाँके समस्त कार्य सुसम्पूर्ण होने लगेंगे, तब उतनी ही सीमामें हमारे सम्पूर्ण देशकी समस्या हल हो सकती है। व्यक्तिगत

इच्छाको सर्वसाधारणके हितके अनुकूल बना डालनेकी चर्चा राष्ट्रीय व्याख्यान-मंचपर खड़े होकर नहीं की जा सकती, उसके लिए खेत बनाये जाने चाहिए—वह खेत ही हमारा आश्रम होगा।

एक छोटासा दृष्टान्त तुम्हारे सामने रखता हूं। खाने-पीनेकी रुचि और अभ्यासके सम्बन्धमें बंगालमें जैसा कदाचार है, वैसा और कहीं भी नहीं। पाकशाला और पाकयंत्रको हमने बहुत ही भारग्रस्त बना डाला है। इस विषयमें संस्कार या सुधार करना बड़ा कठिन है। अपने समाजके चिरन्तन हितके प्रति लक्ष्य रखकर हमारे छात्र और शिक्षक यदि पथ्यके विषयमें अपनी रुचिको यथोचित रूपसे नियंत्रित करनेका प्रण कर सकते, तो मैं जिसे शिक्षा कहता हूं, वह शिक्षा सार्थक हो सकती। सात-तिया-इक्कीस कंठस्थ करनेको हम शिक्षा ही समझते हैं, और इस बातपर लक्ष्य न रखनेको कि इस विषयमें भूल न करें, हम बड़ा-भारी अपराध समझते हैं, परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो जिस चीजको पेटमें भरते हैं, उस विषयकी शिक्षाको कम कीमत समझना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं। अपने दैनिक भोजनके सम्बन्धमें देशके सामने हमारा एक दायित्व है और वह बहुत बड़ा दायित्व है—अन्य समस्त उपलब्धियोंके साथ-साथ इसकी याद रखना इम्तिहानके मार्कसे कहीं बड़ा है।

मैंने उनसे पूछा—"कोई कुछ अपराध करे, तो उसके लिए क्या विधान है?"

एक लड़कीने कहा-- "हमारे यहां किसी तरहका शासन नहीं है, क्योंकि हम अपनी सजा आप ही लिया करते हैं।"

मैंने कहा—'और जरा विस्तारसे कहो। अगर कोई अपराध करे, तो क्या तुम लोग उसके लिए कोई खास सभा करते हो? या अपनेमें से किसीको पंच चुन लेते हो? और सजा देनेके नियम हैं, तो कैसे हैं?"

एक लड़कीने जवाब दिया—"उसे विचार-सभा नहीं कहा जा सकता, हम लोग आपसमें बातचीत करते हैं। किसीको अपराधी सिद्ध कर देना ही सजा है, इससे बढ़कर और सजा क्या होगी!"

एक लड़केने कहा—"वह भी दुःखित होता है, हम भी दुःखित होते हैं, बस झगड़ा तय हुआ।"

मैंने कहा—"मान लो, कोई लड़का अगर सोचे कि उसपर झूठा दोषारोप हो रहा है, तो तुम लोगोंके ऊपर और भी कहीं वह अपील कर सकता है?"

लड़केने कहा—"तब हम लोग वोट लेते हैं—अधिक मतसे अगर निर्णय हो कि वह अपराधी है, तो उसपर फिर अपील नहीं चल सकती।"

मैंने कहा—"अपील न चले, यह दूसरी बात है, पर फिर भी अगर वह समझे कि अधिक मतोंने उसके प्रति अन्याय किया है, तो उसका कोई प्रतिकार हो सकता है या नहीं?"

एक लड़कीने उठकर कहा—"तब सम्भव है हम लोग अपने

शिक्षकोंके पास जायँ और इस विषयमें उनकी सलाह लें—पर ऐसी घटना कभी हुई नहीं।"

मैंने कहा—"जिस तपस्यामें सभी कोई शामिल हैं, वह स्वयं ही अपराधोंसे तुम्हारी रक्षा करेगी।"

यह पूछनेपर कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है, उन्होंने कहा—"अन्य देशके लोग अपने कामके लिए धन चाहते हैं, सम्मान चाहते हैं; हम वैसा कुछ भी नहीं चाहते, हम सर्वसाधारणका हित चाहते हैं। हम गाँववालोंको शिक्षा देनेके लिए देहातोंमें जाते हैं, और उन्हें समझाते हैं कि किस तरह सफाईसे रहा जाता है, सब काम बुद्धिपूर्वक किस तरह सरलतासे किये जाते हैं, इत्यादि। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब हमें स्वयं वहाँ रहना पड़ता है, इसके लिए हम नाटक खेलते हैं और देशकी हालत उन्हें समझाते हैं।"

उसके बाद उन लोगोंने मुझे दिखाना चाहा कि वे सजीव समाचार-पत्र किसे कहते हैं। एक लड़कीने कहा—"देशके सम्बन्धमें हमें बहुतसे समाचार जानने पड़ते हैं, हमें जो मालूम हो जाते हैं, उन्हें दूसरोंको जता देना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि तथ्यको ठीक तौरसे जानने और उस विषयमें विचार करनेसे ही हमारा कार्य ठोस हो सकता है।"

एक लड़केने कहा—"पहले हम किताबोंसे और शिक्षकोंसे सीखते हैं, फिर उसी विषयपर आपसमें आलोचना करते हैं, इसके बाद हमें सर्वसाधारणको समझाने जानेकी आज्ञा मिलती है।"

सजीव समाचारपत्रका अभिनय करके मुझे दिखाया गया। विषय था 'रूसका पंचवार्षिक संकल्प'। अर्थात् इन लोगोंने दृढ़ प्रण किया है कि पाँच वर्षके अंदर ये सारे देशको यन्त्रशक्तिमें सुदक्ष कर डालेंगे; बिजली और भाप की शक्तिको ये देशके इस छोरसे उस छोर तक सर्वत्र काममें लायेंगे। 'इनका देश' से यह मतलब नहीं कि सिर्फ यूरोप और रूस, बल्कि एशियाके बहुत दूर तक उसका विस्तार है। वहाँ भी ये अपनी शक्तिके वाहनको ले जायँगे। धनीको अधिकतर धनी बनानेके लिए नहीं, बल्कि जन-समाजको शक्तिसम्पन्न करनेके लिए—उस जन-समाजमें मध्य-एशियाके काले-चमड़ेके मनुष्य भी शामिल हैं। वे भी शक्तिके अधिकारी होंगे, इसके लिए कोई डर नहीं, चिन्ता नहीं।

इस कामके लिए इन्हें बहुत ज्यादा रुपयोंकी ज़रूरत है—यूरोपीय बड़े-बाजारोंमें इनकी हुंडी नहीं चलती—नक़द दाम देकर सौदा लेनेके सिवा और कोई चारा ही नहीं। इसीलिए मुँहका कौर देकर ये जरूरी चीजें खरीदते हैं, यहाँका पैदा हुआ अनाज, पशु-मांस, अंडे, मक्खन—सब-कुछ विदेशके बाजारोंमें बिकने जाता है। देश-भरके लोग उपवासके किनारे तक आ पहुंचे हैं,—अब भी डेढ़ वर्ष बाकी है। दूसरे देशोंके महाजन इनसे खुश नहीं हैं। विदेशी इंजिनीयरोंने इनके बहुतसे कल-कारखाने नष्ट भी कर दिये हैं। यहाँका काम बहुत-बड़ा और जटिल है, समय बहुत थोड़ा है। समय बढ़ानेका साहस नहीं होता,

क्योंकि ये समस्त धनी-समाजकी प्रतिकूलताके सामने खड़े हैं; जितनी जल्दी हो सके, अपने बूतेपर धन कमाना इनके लिए बहुत ही ज़रूरी है। तीन वर्ष बीत चुके, अब भी दो वर्ष बाकी हैं।

सजीव अखबार अभिनयके समान है,—नृत्य-गीत और झंडा उड़ाकर ये जता देना चाहते हैं कि देशकी धन-शक्तिको यंत्रवाहिनी करके धीरे-धीरे इन्होंने कितनी सफलता पाई है। देखनेकी जरूरत बहुत ज्यादा है। जो जीवनयात्राके अत्यन्त आवश्यक सामग्रियोंसे वंचित रहकर कष्टसे दिन बिता रहे हैं, उन्हें समझानेकी जरूरत है कि शीघ्र ही इस कष्टका अन्त होगा, और उसके बदले जो कुछ मिलेगा, उसका स्मरण करके उन्हें आनन्दके साथ, गौरवके साथ कष्टोंको गले लगाना चाहिए।

इसमें सन्तोषकी बात यह है कि इस कार्यमें कोई दल-विशेष नहीं, बल्कि सभी लोग एक साथ तपस्यामें लगे हुए हैं। ये सजीव संवादपत्र अन्य देशोंके समाचार भी इसी ढंगसे देश-भरमें फैलाया करते है। पतिशरमें * देहतत्त्व और मुक्तितत्त्वपर एक नाटक देखा था, उसकी याद उठ आई- ढंग एक ही है, लक्ष्य भिन्न है। सोच रहा हूं, देश लौटकर शान्तिनिकेतन और सुरुल (श्रीनिकेतन) में इसी तरहके सजीव संवादपत्र चलानेकी कोशिश करूँगा।

---

* बंगालका एक स्थान, जहां कविकी जमींदारी है।

इनका दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार है—सवेरे सात बजे उठते हैं, उसके बाद पन्द्रह मिनट व्यायाम करते हैं, फिर नित्यक्रिया और कलेवा। आठ बजेसे क्लास बैठती है। एक बजे थोड़ी देरके लिए खाने और विश्राम करनेकी छुट्टी होती है। तीन बजे तक क्लास होती रहती है। सीखनेके विषय हैं—इतिहास, भूगोल, गणित, प्राथमिक प्राकृत-विज्ञान, प्राथमिक रसायन, प्राथमिक जीव-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान, राष्ट्र-विज्ञान, समाज-विज्ञान, साहित्य, हाथकी कारीगरी, बढ़ईका काम, जिल्दसाजीका काम, नये ढंगकी खेतीको मशीन आदिका व्यवहार, इत्यादि। रविवार नहीं है। हर पाँचवें दिन छुट्टी रहती है। तीन बजे बाद खास दिनकी कार्य-सूचीके अनुसार पायोनियर लोग (अग्रगामियोंका दल) कारखाने, अस्पताल, गाँव आदि देखने जाया करते हैं।

देहातोंमें भ्रमण करानेकी व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी ये स्वयं अभिनय करते हैं और कभी-कभी थियेटर देखने भी जाते हैं। शामका कार्यक्रम है—कहानियाँ पढ़ना, कहानियाँ सुनाना, तर्क करना, साहित्यिक और वैज्ञानिक सभाएँ करना। छुट्टीके दिन पायोनियर लोग अपने कपड़े धोते हैं, घर साफ करते हैं, मकान और मकानके चारों तरफ सफाई करते हैं, क्लासके पाठके अलावा अतिरिक्त पाठ [illegible] हैं, घूमने जाते हैं। विद्यालयमें भरती होनेकी उमर है सात-आठ साल और विद्यालय छोड़नेकी उमर सोलह। इनका अध्ययन-काल हमारे देशकी

तरह लम्बी-लम्बी छुट्टियोंसे पोला नहीं किया गया, इसलिए थोड़े ही दिनोंमें ये बहुत ज्यादा पढ़ सकते हैं।

यहांके विद्यालयोंका एक बड़ा-भारी गुण यह है कि ये जो कुछ पढ़ते हैं, साथ-साथ उसकी तसवीर भी खींचते जाते हैं। इससे पाठका विषय मनपर चित्रित हो जाता है, चित्रांकनमें हाथ सध जाता है— और पढ़नेके साथ रूप-चित्रणका आनन्द भी मिल जाता है। यकायक ऐसा मालूम होने लगता है कि इन लोगोंका ध्यान सिर्फ कामकी ओर ही है, और गँवारोंकी तरह ये ललितकलाकी अवज्ञा करते हैं। परन्तु यह बात बिलकुल नहीं है। सम्राटोंके जमानेमें बने हुए बड़े-बड़े नाट्य-मन्दिरोंमें उच्च श्रेणीके नाटक और औपेराओंके अभिनयके दिन देरसे टिकट मिलना मुशकिल हो जाता है। नाट्याभिनय-कलामें इनके समान उस्ताद संसारमें बहुत थोड़े ही हैं। प्राचीनकालमें अमीर-उमराव ही इनका आनन्द ले सकते थे—उस जमानेमें जिनके पैरोंमें जूते न थे, कपड़े थे फटे-पुराने-मैले, जिन्हें भर-पेट खानेको न मिलता था, अहोरात्र जो मनुष्य और देवता सभीसे डरा करते थे, परित्राणके लिए जो पुरोहित-पंडोंको घूस दिया करते थे, और मालिकके पैरों-तले धूलमें सिर रखकर जो अपनी अवज्ञा आप करते थे, आज उन्हींकी भीड़से थियेटरोंमें जगह नहीं मिलती।

मैं जिस दिन अभिनय देखने गया था, उस दिन खेल था टालस्टायका 'रिसरैक्शन'। मेरी समझसे यह नाटक सर्वसाधारणके लिए सहज-उपभोग्य नहीं हो सकता। परन्तु श्रोतागण गम्भीर होकर

बड़े ध्यानसे चुपचाप सब सुन रहे थे। एंग्लो-सेक्सन किसान-मजूर-श्रेणीके लोगोंने इस नाटकको रातके एक बजे तक ऐसी दिलचस्पीके साथ शान्तभावसे देखा होगा—यह बात कल्पनामें नहीं आती, हमारे देशकी तो बात ही छोड़ दो।

और एक उदाहरण देता हूं। मास्को शहरमें मेरी तसवीरोंकी प्रदर्शनी हुई थी। यह तो कहना ही न होगा कि मेरी तसवीरें विचित्र और दुनियासे न्यारी ही थीं। सिर्फ विदेशी हों सो नहीं, कहा जा सकता है कि वे किसी भी देशकी नहीं हैं, मगर लोगोंका भीड़-भम्भड़ काफी था। इन थोड़ेसे दिनोंमें पांच हजार आदमी तसवीर देखने आये थे। और कोई चाहे कुछ कहे, कमसे कम मैं तो इनकी रुचिकी प्रशंसा बिना किये नहीं रह सकता।

रुचिकी बात छोड़ दो, मान लो कि वह एक खोखला कौतूहल ही था, परन्तु यह कौतूहल ही तो जाग्रत चित्तका परिचय है। मुझे याद है, एक दिन अपने कुएके लिए मैंने अमेरिकासे एक वायुबल-चक्रयन्त्र मँगाया था, जिससे कुआकी गहरी नीचाईसे पानी उठ आता था; परन्तु जब देखा कि लड़कोंके मनकी गहराईसे जरा भी कौतूहल नहीं उठ रहा, तो मनमें बड़ा ही धिक्कार आने लगा। हमारे यहाँ भी तो बिजलीके कारखाने हैं, कितने लड़के जाते हैं वहां उत्सुकता मिटाने? कहनेको तो वे भद्रश्रेणीके लड़के हैं। बुद्धिकी जड़ता जहां है, वहीं कौतूहल दुर्बल है।

यहां स्कूलके लड़कोंकी बनाई हुई तसवीरें हमें बहुतसी मिलीं

हैं—देखकर आश्चर्य होता है—बेशक वे चित्र हैं, किसीकी नकल नहीं, उनकी अपनी उपज हैं। यहां निर्माण और सृष्टि दोनोंकी तरफ लक्ष्य देखकर बहुत सन्तुष्ट और निश्चिन्त हुआ हूं। जबसे यहां आया हूं, अपने देशकी शिक्षाके बारेमें मुझे बहुत सोचना पड़ा है। अपनी निःसहाय सामान्य शक्तिसे इसमें से कुछ लेने और प्रयोग करनेकी कोशिश करूँगा। पर अब समय कहां है—सम्भव है, मेरे लिए पंचवार्षिक संकल्प भी पूरा न हो। लगभग तीस वर्षसे जैसे अकेला ही प्रतिकूलताके विरुद्ध लग्घीसे नाव ठेलता रहा हूं—और भी दो-चार वर्ष उसी तरह ठेलना पड़े, पर बहुत आगे न बढ़ सकूंगा, मैं जानता हूं—फिर भी किसीसे फरियाद न करूंगा। आज अब समय नहीं रहा। आज ही रातकी गाड़ीसे जहाजके घाटकी ओर रवाना होना है, कल समुद्रसे पार होऊँगा।

२ अक्टोबर, १६३०

७

ब्रेमेन स्टीमर

अतलान्तिक

रूससे लौटकर आज फिर आ रहा हूं अमेरिकाके घाटपर। किन्तु रूसकी स्मृति आज भी मेरे सम्पूर्ण मनपर अधिकार किये हुए है। उसका प्रधान कारण यह है कि और-और जिन देशोंमें घूमा हूं, वहांके समाजने समग्ररूपसे मेरे मनको

हिलाया नहीं है। उनमें अनेक कार्योंका उद्यम है, पर अपनी-अपनी सीमाके भीतर। कहीं पालिटिक्स है तो कहीं अस्पताल, कहीं विश्वविद्यालय है तो कहीं म्यूजियम---विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्रमें ही मशगूल हैं; मगर यहाँ सारा देश एक ही अभिप्रायको लेकर समस्त कार्य-विभागोंको एक ही स्नायुजालमें बाँधकर एक विराट रूप धारण किये हुए है। सब-कुछ एक अखंड तपस्यामें आकर मिल गया है।

जिन देशोंमें अर्थ और शक्तिका अध्यवसाय व्यक्तिगत स्वार्थोंमें बँटा हुआ है, वहाँ इस तरहकी गहरी हार्दिक एकता असम्भव है। जब यहाँ पंच-वर्ष-व्यापी यूरोपीय महायुद्ध चल रहा था, तब झख मारकर देशकी अधिकांश भावनाएँ और कार्य एक अभिप्रायसे मिलकर एक हृदयके अधिकारमें आये थे, पर वह था अस्थायी---किन्तु सोवियट रूसमें जो कार्य हो रहा है, उसकी प्रकृति ही यही है;---ये तो सर्वसाधारणका काम, सर्वसाधारणका हृदय और सर्वसाधारणका स्वत्व नामकी एक असाधारण सत्ता कायम करनेमें लगे हुए हैं।

उपनिषद्की एक बात मैंने यहाँ आकर बिलकुल स्पष्ट समझी है---'मा गृधः'---लोभ न करो। क्यों लोभ न करें? इसलिए कि सब-कुछ एक सत्यके द्वारा ही परिव्याप्त है---और व्यक्तिगत लोभ उस एककी उपलब्धिमें बाधा पहुँचाता है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'---उस एकसे जो आता है, उसीका भोग करो। आर्थिक दृष्टिकोणसे ये यही बात कहते हैं। समस्त मानव-

साधारणमें ये एक अद्वितीय मानव-सत्यको ही बड़ा मानते हैं— उस एकके योगसे उत्पन्न जो-कुछ है, ये कहते हैं कि उसका सब कोई मिलकर भोग करो—'मा गृधः कस्यस्विद्धनं'— किसीके धनपर लोभ मत करो। किन्तु धनका व्यक्तिगत विभाग होनेसे धनका लोभ स्वभावतः होता ही है। उसका लोप करके ये कहना चाहते हैं—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'।

यूरोपमें अन्य सभी देशोंकी साधना व्यक्तिके लाभ और व्यक्तिके भोगके लिए है। इसीसे मन्थन और आलोड़न इतना प्रचंड है, और पौराणिक समुद्रमन्थनकी तरह उसमें से विष और सुधा दोनों ही निकल रहे हैं।

पर सुधाका हिस्सा सिर्फ एक ही दलको मिलता है, और अधिकांशोंको नहीं मिलता—इसीसे दुःख और अशान्ति हदसे ज़्यादा बढ़ रही है। सभीने मान लिया था कि यही अनिवार्य है—कहा था—मानव-प्रकृतिके अंदर ही लोभ है और लोभका काम है भोगमें असमान भाग करना। अतएव प्रतियोगिता चलेगी ही, और लड़ाईके लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। परन्तु सोवियट लोग जो कहना चाहते हैं, उससे समझना चाहिए कि मनुष्यमें ऐक्य ही सत्य है, भाग तो माया है; सम्यक् विचार और सम्यक् चेष्टासे जिस क्षणमें मायाको न मानेंगे, उसी क्षण वह स्वप्नकी तरह लुप्त हो जायगी।

रूसकी वह न-माननेकी चेष्टा सारे देशमें विराट रूपमें अपना काम कर रही है। सब-कुछ इसी एक चेष्टामें आकर मिल

गया है। यही कारण है कि रूसमें आकर एक विराट हृदयका स्पर्श मिला। शिक्षाका विराटपर्व और किसी भी देशमें ऐसा नहीं देखा, इसका कारण यह है कि अन्य देशोंमें जो शिक्षा प्राप्त करता है, वही उसका फल पाता है—'पढ़ोगे-लिखोगे होओगे नवाब'। यहाँ प्रत्येककी शिक्षामें सबकी शिक्षा शामिल है। एक आदमीमें जो शिक्षाका अभाव होगा, वह सबको अखरेगा। क्योंकि ये सम्मिलित शिक्षाके योगसे सम्मिलित मनको विश्व-साधारणके काममें लगाना चाहते हैं। ये 'विश्वकर्मा' हैं; इसलिए इन्हें विश्वमना बनना है, अतएव इन्हींके लिए यथार्थमें विश्वविद्यालय हो सकता है।

शिक्षाको ये नाना प्रणालियोंसे सर्वत्र सबोंमें फैला रहे हैं। उन प्रणालियोंमें एक है म्यूज़ियम। नाना प्रकार म्यूज़ियमोंके जालोंसे इन लोगोंने गाँवों और शहरोंको छा दिया है। वे म्यूज़ियम हमारे शान्तिनिकेतनकी लाइब्रेरीकी तरह निष्क्रिय (Passive) नहीं—क्रियात्मक (Active) हैं।

रूसकी Region Study अर्थात् स्थानिक तथ्यानुसन्धानका उद्योग सर्वत्र व्याप्त है। इस तरहके शिक्षा-केन्द्र लगभग २००० होंगे, जिनकी सदस्य-संख्या ७०००० से भी आगे बढ़ गई है। इन सब केन्द्रोंमें उन-उन स्थानोंके अतीत इतिहास और वर्तमान आर्थिक अवस्थाकी खोज की जाती है। इसके सिवा उन सब स्थानोंकी उत्पादिका शक्ति किस श्रेणीकी है और वहाँ कोई खनिज पदार्थ छिपा हुआ है या नहीं—इस विषयकी

भी खोज की जाती है। इन सब केन्द्रोंके साथ जो म्यूज़ियमें हैं, उन्हींके ज़रिये सर्वसाधारणमें शिक्षा-प्रचारका कार्य होता है, और यह बड़ा-भारी काम है। सोवियट राष्ट्रमें सर्वसाधारणकी ज्ञानोन्नतिका जो नवयुग आया है, स्थानिक तथ्यानुसंधानकी व्यापक चर्चा और उससे सम्बन्ध रखनेवाली म्यूजियमें उसकी एक मुख्य प्रणाली हैं।

इस तरहका निकटवर्ती स्थानोंका तथ्यानुसंधान शान्तिनिकेतनमें कालीमोहनने कुछ-कुछ किया है—पर उस कार्यमें हमारे छात्र और शिक्षकोंके शामिल न होनेसे उससे कोई उपकार नहीं हुआ। अनुसन्धानके फल पानेकी अपेक्षा अनुसंधान करनेका मन तैयार करना कुछ कम बात नहीं है। मैंने सुना था कि कालेज-विभागके इकॉनॉमिक क्लासके विद्यार्थियोंके साथ प्रभातने इस प्रकारकी चर्चाकी नींव डाली है; परन्तु यह काम और भी अधिक साधारण रूपमें होना चाहिए, पाठ-भवनके लड़कोंको भी इस कार्यमें दीक्षित करना होगा, और साथ ही समस्त प्रादेशिक सामग्रियोंकी म्यूज़ियम स्थापित करनेकी भी आवश्यकता है।

यहाँ तसवीरोंकी म्यूज़ियमका काम कैसे चलाया जाता है, उसका विवरण सुननेसे अवश्य ही तुम्हें सन्तोष होगा। मास्को शहरमें ट्रेटियाकोव गैलरी (Tretyakov Gallery) नामक एक प्रसिद्ध चित्र-भंडार है। वहाँ १९२८ से १९२९ तक एक वर्षके अन्दर लगभग तीन लाख आदमी चित्र देखने आये हैं। इतने दर्शक आना चाहते हैं कि उनके लिए स्थान



मास्कोके कृषि-भवनमें रवीन्द्रनाथ

देना कठिन हो रहा है, इसलिए दर्शकोंको पहले ही से छुट्टीके दिन अपना नाम रजिस्टरमें लिखा देना पड़ता है।

सन् १९१७ में, सोवियट-शासन चालू होनेसे पहले जो दर्शक इस तरहकी गैलरीमें आते थे, वे थे धनी-मानी-ज्ञानी दलके लोग—जिनको ये bourgeoisie कहते हैं—अर्थात् पर-श्रमजीवी। और अब आते हैं असंख्य स्वश्रमजीवी—जैसे राजमिस्त्री, लुहार, बढ़ई, दर्जी, मोदी आदि। इनके सिवा और आते हैं सोवियट सैनिक, सेनानायक, विद्यार्थी और किसान आदि।

धीरे-धीरे इनके हृदयमें आर्टका ज्ञान जगाते रहना जरूरी है। इन जैसे अनाड़ियोंके लिए प्रथम दृष्टिमें चित्र-कलाका रहस्य ठीक तौरसे समझ लेना कठिन है। ये घूम-घूमकर दीवालोंपर टँगी हुई तसवीरें देखते फिरते हैं—बुद्धि काम नहीं देती। इसके लिए लगभग सभी म्यूज़ियमोंमें योग्य परिचायक रखे गये हैं, वे उन्हें समझा दिया करते हैं। म्यूज़ियमोंके शिक्षा-विभागमें अथवा ऐसी ही अन्य राष्ट्रीय कार्यशालाओंमें जो वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता हैं, उन्हींमें से परिचायक चुने जाते हैं। जो देखने आते हैं, उनके साथ इनका लेन-देनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। परिचायकोंका यह कर्तव्य होता है कि तसवीरमें जो विषय प्रकट किया है, सिर्फ उसीको देख लेने-मात्रसे तसवीर देखनेका उद्देश पूरा हो गया, दर्शकों द्वारा ऐसी भूल न होने दें।

चित्र-वस्तुका गठन (composition), उसकी वर्ण-कल्पना (colour scheme), उसका अंकन, उसका 'स्पेस' (space—अंकित

वस्तुओंका पारस्परिक अंतर), उसकी उज्ज्वलता (illumination)—चित्रकलाके ये जो मुख्य शिल्प-कौशल (technique) हैं, जिनसे कि चित्रोंकी विशेष शैली प्रकट होती है—ये सब विषय अब भी बहुत कम लोगोंको मालूम हैं। इसलिए परिचायकोंमें इन सब विषयोंका अच्छा ज्ञान होना चाहिए, तभी वे दर्शकोंकी उत्सुकता और इच्छाको जगा सकते हैं। एक बात और, म्यूज़ियममें सिर्फ एक ही चित्र नहीं होता, इसलिए एक चित्रको समझ लेना दर्शकोंका उद्देश नहीं होना चाहिए, म्यूज़ियममें जो विशेष श्रेणीके चित्र रहते हैं, उनकी श्रेणीगत रीतिका समझना आवश्यक है। परिचायकोंका कर्तव्य है कि किसी विशेष श्रेणीके कुछ चित्र छाँटकर दर्शकोंको उनकी प्रकृति समझा दें। आलोच्य चित्रोंकी संख्या बहुत ज्यादा होनेसे काम नहीं चल सकता, और समय भी बीस मिनटसे ज्यादा लगाना ठीक नहीं। प्रत्येक चित्रकी अपनी एक भाषा होती है—अपना एक छन्द होता है. वही समझनेका विषय है ; चित्रके रूपके साथ उसके विषय और भावका क्या सम्बन्ध है, इसकी व्याख्या करना आवश्यक है। चित्रोंकी पारस्परिक विपरीतताके द्वारा उनकी विशेषता समझा देना अकसर बहुत काम कर जाता है। परन्तु, यदि दर्शकका मन ज़रा भी कहीं थक जाय, तो वहीं उसे छुट्टी दे देनी चाहिए।

अशिक्षित दर्शकोंको ये किस तरह तसवीर देखना सिखाते हैं, उन्हींकी रिपोर्टसे उपर्युक्त बातें संग्रह करके तुम्हें लिख रहा हूं। इनमेंसे भारतीयोंको जिस बातपर विचार करना चाहिए, वह यह

है—पहले जो चिट्ठी लिखी है, उसमें मैंने कहा है कि ये लोग कृषिबल और यन्त्रबलसे समस्त देशको जल्दी-से-जल्दी शक्तिमान बनानेके लिए बड़े उद्यमके साथ कमर कसकर जुट पड़े हैं। यह बड़े ही कामकी बात है। अन्य समस्त धनी देशोंके साथ प्रतियोगता करते हुए अपने बलपर जीवित रहनेके लिए ही इनकी यह कठोर तपस्या है।

हमारे देशमें जब इस प्रकारकी देशव्यापी राष्ट्रीय तपस्याका जिक्र आता है, तब हम यही कहना शुरू कर देते हैं कि बस सिर्फ एक लाल मशाल जलाकर देशके अन्य समस्त विभागोंके सब दीपकोंको बुझा देना चाहिए, नहीं तो मनुष्य अन्यमनस्क हो जायँगे। खासकर ललितकला और-सब तरहके कठोर संकल्पोंकी विरोधिनी है। अपनी जातिको पहलवान बनानेके लिए सिर्फ ताल ठुकवाकर उसे पैंतरेबाजी सिखानी चाहिए, सरस्वतीकी वीणासे अगर लाठीका काम लिया जा सके, तभी वह चल सकती है, अन्यथा नैव नैव च। इन बातोंसे कितना नकली पौरुष प्रकट होता है, यहाँ आनेसे स्पष्ट समझा जा सकता है। यहांवाले देश-भरमें कल-कारखाने चलानेमें जिन मजदूरोंको पक्का कर देना चाहते हैं, वे ही मजदूर जिससे अपनी शिक्षित बुद्धिसे तसवीरोंका रस ग्रहण कर सकें, इसीके लिए इतना विराट आयोजन हो रहा है। ये लोग जानते हैं कि जो रसज्ञ नहीं हैं, वे बर्बर हैं, और जो बर्बर हैं, वे बाहरसे रूखे और भीतरसे कमज़ोर होते हैं। रूसकी नवीन नाट्यकलाने असाधारण उन्नति की है। १९१७ की क्रान्तिके

साथ-साथ ये लोग भी घोरतर दुर्दिन और दुर्भिक्षके समय नाचते रहे हैं, गाते रहे हैं, नाट्याभिनय करते रहे हैं—इनके ऐतिहासिक विराट नाट्याभिनयके साथ उसका कहीं भी विरोध नहीं हुआ है।

मरुभूमिमें शक्ति नहीं होती। शक्तिका यथार्थ रूप वहीं देखनेमें आता है, जहां पत्थरकी छातीमें से जलकी धारा कल्लोलित होकर निकलती है, जहां वसन्तके रूप-हिल्लोलसे हिमालयका गाम्भीर्य मनोहर हो उठता है। विक्रमादित्यने भारतवर्षसे शक शत्रुओंको भगा दिया था, किन्तु कालिदासको 'मेघदूत' लिखनेके लिए मना नहीं किया। यह नहीं कहा जा सकता कि जापानी लोग तलवार नहीं चला सकते, किन्तु साथ ही वे समान निपुणताके साथ तूलिका भी चलाते हैं। रूसमें आकर अगर देखता कि ये केवल मजदूर बनकर कारखानोंके लिए सामान ही पैदा करते हैं और हल जोतते हैं, तो समझता कि ये भूखों मरेंगे। जो वृक्ष पत्तोंकी मर्मरध्वनि बन्द करके खट-खट आवाजसे अहंकार करता हुआ कहता रहे कि मुझे रसकी जरूरत नहीं, वह जरूर बढ़ईके घरका नकली वृक्ष है—वह अत्यन्त कठोर हो सकता है, पर है अत्यन्त निष्फल ही। अतएव मैं वीरपुरुषोंसे कहे देता हूं और तपस्वियोंको सावधान किये देता हूं कि जब मैं अपने देशको लौटूंगा, तब पुलिसकी लाठियोंकी मूसलधार वर्षामें भी अपना नाच-गान बन्द न करूंगा।

रूसके नाट्यमंचपर कलाकी तपस्याका जो विकास हुआ है, वह असाधारण है—महान है। उसमें नवीन सृष्टिका साहस

उत्तरोत्तर बढ़ना ही दिखाई देता है, उसकी गति अभी रुकी नहीं है। वहांकी सामाजिक क्रान्तिमें यह नई सृष्टि ही असीम साहससे काम कर रही है। ये लोग समाजमें, राष्ट्रमें, कला-तत्त्वमें—कहीं भी नवीनतासे डरे नहीं हैं।

जिस पुराने धर्मतन्त्रने और जिस पुराने राज्यतन्त्रने शताब्दियोंसे इनकी बुद्धिको प्रभावित कर रखा है और प्राणशक्तिको निःशेषप्राय कर दिया है, इन सोवियट-क्रान्तिकारियोंने उन दोनों ही को निर्मूल कर दिया है, इतनी बड़ी बन्धन-जर्जरित पराधीन जातिको इतने थोड़े समयके अंदर इतनी बड़ी मुक्ति दी है कि उसे देखकर हृदय आनन्दसे भर जाता है। क्योंकि जो धर्म मानवजातिको मूढ़ताका वाहन बनाकर मनुष्यके चित्तकी स्वाधीनताको नष्ट करता है, उससे बढ़कर हमारा शत्रु कोई राजा भी नहीं हो सकता—फिर वह राजा बाहरसे प्रजाकी स्वाधीनताको कितना ही क्यों न बेड़ियोंसे बाँधता हो। आज तक यही देखनेमें आया है कि जिस राजाने प्रजाको दास बनाये रखना चाहा है, उस राजाका सबसे बड़ा सहायक बना है वही धर्म, जो मनुष्यको अन्धा बनाये रखता है। वह धर्म विष-कन्याके समान है; आलिंगनसे वह मुग्ध कर लेता है, और मुग्ध करके मार डालता है। शक्तिशूलकी अपेक्षा भक्तिशूल और भी गहरे मर्ममें जाकर प्रवेश करता है, क्योंकि उसकी मार आरामकी मार होती है।

सोवियटोंने रूस-सम्राट द्वारा किये गये अपमान और आत्मकृत अपमानके हाथसे इस देशको बचाया है—अन्य देशोंके धार्मिक चाहे उनकी कितनी ही निन्दा करें, पर मैं निन्दा नहीं कर

सकता। धर्ममोहकी अपेक्षा नास्तिकता कहीं अच्छी है। रूसकी छातीपर धर्म और अत्याचारी राजाका जो पत्थर धरा था; उसके हटते ही देशको कैसी विराट मुक्ति मिली है,—अगर तुम यहां होते तो उसे अपनी आँखोंसे देखते।

३ अक्टोबर, १९३०

८

अतलान्तिक महासागर

रूससे लौट आया, अब जा रहा हूं, अमेरिकाकी ओर। रूस-यात्राका मेरा एकमात्र उद्देश था—वहां जनसाधारणमें शिक्षा-प्रचारका काम किस तरह चलाया जा रहा है और उसका फल क्या हो रहा है, थोड़े समयमें यह देख लेना।

मेरा मत यह है कि भारतवर्षकी छातीपर जितना दुःख आज अभ्रभेदी होकर खड़ा है, उसकी एकमात्र जड़ है अशिक्षा। जाति-भेद, धर्म-विरोध, कर्म-जड़ता, आर्थिक दुर्बलता—इन सबको जकड़े हुए है शिक्षाका अभाव। साइमन-कमीशनने भारतके समस्त अपराधोंकी सूची समाप्त करनेके बाद ब्रिटिश शासनका सिर्फ एक ही अपराध कबूल किया है। वह है यथेष्ट शिक्षा-प्रचारकी त्रुटि [illegible] और कुछ कहनेकी ज़रूरत भी न थी। मान लो, [illegible] गृहस्थोंने सावधान होना नहीं सीखा, एक

घरसे दूसरे घरमें जाते हुए वे चौखटसे ठोकर खाकर मुँहके बल गिर पड़ते हैं, हरदम उनकी चीज-वस्त खोती ही रहती है, ढूँढ़नेसे लाचार हैं ; छाया देखते ही उसे हौआ समझकर डरने लगते हैं, अपने भाईको देखकर 'चोर आया' 'चोर आया' कहकर लाठी लेकर मारने दौड़ते हैं ; और आलसी ऐसे हैं कि सिर्फ बिछौनेसे चिपटकर पड़े रहते हैं, उठकर घूमने-फिरनेका साहस नहीं ; भूख लगती है, पर भोजन ढूंढ़नेसे लाचार हैं ; भाग्यपर अन्ध-विश्वास करनेके सिवा और सब रास्ते उनके लिए बंद-से हैं—अतएव अपनी घर-गृहस्थीकी देखरेखका भार उनपर नहीं छोड़ा जा सकता—इसके ऊपर सबके अन्तमें बहुत ही धीमे स्वरसे अगर यह कहा जाय कि 'हमने उनके घरका दिआ बुझा रखा है' तो कैसा मालूम पड़े ?

वे लोग एक दिन डाइन कहकर निरपराध स्त्रीको जलाते थे, पापी कहकर वैज्ञानिकको मारते थे, धर्ममतकी स्वाधीनताको अत्यन्त निष्ठुरतासे कुचलते थे, अपने ही धर्मके भिन्न सम्प्रदायोंके राष्ट्राधिकारको नष्ट-भ्रष्ट किया था ; इसके सिवा कितनी अन्धता थी, कितनी मूढ़ता थी, कितने कदाचार उनमें भरे थे,—मध्ययुगके इतिहाससे यदि उनकी सूची तैयार की जाय, तो उनका बहुत ऊँचा ढेर लग जाय ;—ये सब दूर हुईं किस तरह ? बाहरके किसी कोर्ट-आफ्-वार्ड्सके हाथ उनकी अक्षमताके जीर्णोद्धारका भार नहीं सौंपा गया, एकमात्र शक्तिने ही उन्हें आगे बढ़ाया है, वह शक्ति है उनकी शिक्षा।

जापानने इस शिक्षाके द्वारा ही थोड़े समयके अंदर देशकी राष्ट्रशक्तिको सर्वसाधारणकी इच्छा और उद्यमके साथ मिला दिया है, देशकी अर्थोपार्जनकी शक्तिको बहुत गुना बढ़ा दिया है। वर्तमान टर्कीने तेज़ीके साथ इसी शिक्षाको बढ़ाकर धर्मान्धताके भारी बोझसे देशको मुक्त करनेका मार्ग दिखाया है। "भारत सिर्फ सोता ही रहता है।" क्योंकि उसने अपने घरमें प्रकाश नहीं आने दिया; जिस प्रकाशसे आजका संसार जागता है, शिक्षाका वह प्रकाश भारतके बंद दरवाज़ेके बाहर ही खड़ा है।

जब रूसके लिए रवाना हुआ था, तब बहुत ज्यादाकी आशा नहीं की थी। क्योंकि कितना साध्य है और कितना असाध्य, इसका आदर्श मुझे ब्रिटिश-भारतसे ही मिला है। भारतकी उन्नतिकी दुरूहता कितनी अधिक है, इस बातको स्वयं ईसाई पादरी टमसनने बहुत ही करुण स्वरमें सारे संसारके सामने कहा है। मुझे भी मानना पड़ा है कि दुरूहता है अवश्य, नहीं तो हमारी ऐसी दशा क्यों होती? यह बात मुझे मालूम थी कि रूसमें प्रजाकी उन्नति भारतसे ज्यादा ही दुरूह थी, कम नहीं। पहली बात तो यह है कि हमारे देशमें भद्रेतर श्रेणीके लोगोंकी जैसी दशा अब है, यहांकी भद्रेतर श्रेणीकी भी—क्या बाहरसे और भीतरसे—वैसी ही दशा थी। उसी तरह ये लोग भी निरक्षर और निरुपाय थे, पूजा-अर्चना और पुरोहित-पंडोंके दिन-रातके तकाज़ोंके मारे इनकी भी बुद्धि बिलकुल दबी हुई

थी, ऊपरवालोंके पैरोंकी धूलसे इनका भी आत्म-सम्मान मलिन था, आधुनिक वैज्ञानिक युगकी सुविधाएँ इन्हें भी कुछ नहीं मिली थीं, इनके भाग्यपर भी पुरखोंके ज़मानेका भूत सवार था, उस भूतने इन्हें हजारों वर्षके पुराने अचल खूँटेसे बाँध रखा था, बीच-बीचमें यहूदी पड़ोसियोंके लिए जब उनपर खून सवार हो जाता था, तब इनकी भी पाशविक निष्ठुरताका अन्त नहीं रहता था। ये ऊपरवालोंके हाथसे चाबुक खानेमें जितने मजबूत थे, अपने समान श्रेणीवालोंपर अन्याय-अत्यार करनेमें भी उतने ही मुस्तैद रहते थे।

यह तो उनकी दशा थी।—आजकल जिनके हाथमें उनका भाग्य है, अंगरेज़ोंकी तरह वे ऐश्वर्यशाली नहीं हैं, अभी तो कुल १९१७ के बादसे अपने देशमें उनका अधिकार आरम्भ हुआ है—राष्ट्र-व्यवस्था सब तरफसे पक्की होने-योग्य समय और साधन उन्हें मिला ही नहीं—घर और बाहर सर्वत्र विरोध है—उनमें आपसी गृह-कलहका समर्थन करनेके लिए अंगरेज़ों—और यहां तक कि अमेरिकनोंने भी—गुप्त और प्रकट रूपमें कोशिश की है। जनसाधारणको समर्थ और शिक्षित बना डालनेके लिए उन लोगोंने जो प्रतिज्ञा की है, उसकी 'डिफिकल्टी' (कठिनाई) भारत-शासकोंकी डिफिकल्टीसे कई गुनी बड़ी है।

इसलिए, मेरे लिए ऐसी आशा करना कि रूस जाकर बहुत-कुछ देखनेको मिलेगा, अनुचित होता। हमने अभी देखा ही क्या है और जानते ही कितना हैं, जिससे हमारी आशाका

जोर ज्यादा हो सकता! अपने दुःखी देशमें पली हुई बहुत कमजोर आशा लेकर रूस गया था। वहाँ जाकर जो कुछ देखा, उससे आश्चर्यमें डूब गया। Law and Order (शान्ति और व्यवस्था) की कहां तक रक्षा की जाती है, कहां तक नहीं—इस बातकी जाँच करनेका मुझे समय नहीं मिला; सुना जाता है कि काफी जबरदस्ती होती है, बिना विचारके शीघ्रतासे दंड भी दिया जाता है। और-सब विषयोंमें स्वाधीनता है, पर अधिकारियोंके विधानके विरुद्ध बिलकुल नहीं। यह तो हुई चन्द्रमाके कलंककी दिशा, परन्तु मेरा तो मुख्य लक्ष्य था प्रकाशकी दिशापर। उस दिशामें जो दीप्ति देखी, वह आश्चर्यजनक थी—जो एकदम अचल थे, वे सचल हो उठे हैं।

सुना जाता है कि यूरोपके किसी-किसी तीर्थ-स्थानसे दैवकी कृपासे चिरपंगु भी अपनी लाठी छोड़कर पैदल वापस आये हैं—यहां भी वही हुआ; देखते-देखते ये पंगुकी लाठीको दौड़नेवाला रथ बनाते चले जा रहे हैं—जो पयादोंसे भी गये-बीते थे, दस ही वर्षमें वे रथी बन गये हैं। मानव-समाजमें वे सिर ऊँचा किये खड़े हैं, उनकी बुद्धि अपने वश है, उनके हाथ-हथियार सब अपने वशमें हैं।

हमारे सम्राट-वंशके ईसाई पादरियोंने भारतवर्षमें बहुत वर्ष बिता दिये हैं; डिफिकल्टीज़ कैसी अचल हैं, इस बातको वे समझ गये हैं। एक बार उन्हें मास्को आना चाहिए। पर आनेसे विशेष लाभ नहीं होगा—क्योंकि खास तौरसे कलंक देखना ही

उनका व्यवसायगत अभ्यास है, प्रकाशपर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती ;—खासकर उनपर तो और भी नहीं पड़ती, जिनसे उन्हें विरक्ति है। वे भूल जाते हैं कि उनके शासन-चन्द्रमें भी कलंक ढूँढ़नेके लिए बड़े चश्मेको ज़रूरत नहीं पड़ती।

लगभग सत्तर वर्षकी उमर हुई—अब तक मेरा धैर्य नहीं गया। अपने देशकी मूढ़ताके बहुत-भारी बोझकी ओर देखकर मैंने अपने ही भाग्यको अधिकतासे दोष दिया है, बहुत ही कम शक्तिके बूतेपर थोड़े-बहुत प्रतिकारकी भी कोशिश की है, परन्तु जीर्ण आशाका रथ जितने कोस चला है, उससे कहीं अधिक बार उसकी रस्सी टूटी है, पहिये टूटे हैं। देशके अभागोंके दुःखकी ओर देखकर सारे अभिमानको तिलांजलि दे चुका हूं। सरकारसे सहायता मांगी है, उसने वाहवाही भी दी है ; जितनी भीख दी, उससे ईमान गया, पर पेट नहीं भरा। सबसे बढ़कर दुःख और शर्मकी बात यह है कि उनके प्रसादसे पलनेवाले हमारे स्वदेशी जीवोंने ही उसमें सबसे ज्यादा रोड़े अटकाये हैं। जो देश दूसरोंके शासनपर चलता है, उस देशमें सबसे भयानक व्याधि हैं ये ही लोग ;—जहांपर अपने ही देशके लोगोंके मनमें ईर्षा, क्षुद्रता और स्वदेश-विरुद्धताकी कालिमा उत्पन्न हो जाय, उस देशके लिए उससे भयानक विष और क्या हो सकता है ?

बाहरके सब कामोंके ऊपर भी एक चीज होती है, वह है आत्माकी साधना। राष्ट्रीय और आर्थिक अनेक तरहकी गड़बड़ियोंमें जब मन गँदला हो जाता है, तब उसे हम स्पष्ट नहीं देख सकते,

इसीलिए उसका जोर घट जाता है। मेरे अंदर वह बला मौजूद है, इसीलिए असली चीजको मैं जकड़े रहना चाहता हूं। इसके लिए कोई मेरा मजाक उड़ाता है तो कोई मुझपर गुस्सा होता है;—वे अपने मार्गपर मुझे भी खींच ले जाना चाहते हैं। परन्तु मालूम नहीं, कहांसे आया हूं मैं इस संसार-तीर्थमें, मेरा मार्ग मेरे तीर्थ-देवताकी वेदीके पास ही है। मेरे जीवन-देवताने मुझे यही मंत्र दिया है कि मैं मनुष्य-देवताको स्वीकार करके उसे प्रणाम करता हुआ चलूँ। जब मैं उस देवताका निर्माल्य ललाटपर लगाकर चलता हूं, तब सभी जातिके लोग मुझे बुलाकर आसन देते हैं—मेरी बात मन लगाकर सुनते हैं। जब मैं भारतीयत्वका जामा पहनकर खड़ा होता हूं, तो अनेक बाधाएं सामने आती हैं। जब ये लोग मुझे मनुष्य-रूपमें देखते हैं, तब मुझपर भारतीय रूपमें ही श्रद्धा करते हैं; जब मैं खालिस भारतीय रूपमें दिखाई देना चाहता हूं, तब ये लोग मेरा मनुष्य-रूपमें आदर कर नहीं पाते। अपना धर्म पालन करते हुए मेरा चलनेका मार्ग गलत समझनेके द्वारा ऊबड़खाबड़ हो जाता है। मेरी पृथ्वीकी मियाद संकीर्ण होती आ रही है; इसलिए मुझे सत्य बननेकी कोशिश करनी चाहिए, प्रिय बननेकी नहीं।

मेरी यहांकी खबरें झूठ-सच नाना रूपमें देशमें पहुंचा करती हैं। उस विषयमें हमेशा मुझसे उदासीन नहीं रहा जाता, इसके लिए मैं अपनेको धिक्कारता हूं। बार-बार ऐसा मालूम होता रहता है कि वाणप्रस्थकी अवस्थामें समाजस्थकी तरह व्यवहार करनेसे विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है।

कुछ भी हो, इस देशको 'एनार्मस डिफिकल्टीज़'की (अन्तर्तम या अत्यन्त भीतरी कठिनाइयोंकी) बातें किताबोंमें पढ़ी थीं, कानोंसे सुनी थीं, पर आज उन डिफिकल्टीज़को (कठिनाइयोंको) पार करनेका चेहरा भी आंखोंसे देख लिया। बस।

४ अक्टूबर, १९३०

९

'ब्रेमेन' जहाज

हमारे देशमें पालिटिक्सको जो लोग खालिस पहलवानी समझते हैं, उन लोगोंने सब तरहकी ललितकलाओंको पौरुषका विरोधी मान रखा है। इस विषयमें मैं पहले ही लिख चुका हूं। रूसका ज़ार किसी दिन दशाननके समान सम्राट् था, उसके साम्राज्यने पृथ्वीका अधिकांश भाग अजगर सर्पकी तरह निगल लिया था, और पूँछसे भी जिसको उसने लपेटा, उसके भी हाड़-गोड़ पीस डाले।

लगभग तेरह वर्ष हुए होंगे, उसी ज़ारके प्रतापके साथ क्रान्तिकारियोंकी लड़ाई ठन गई थी। सम्राट् जब मय अपने खानदानके लुप्त हो चुका, उसके बाद भी उसके अन्य सम्बन्धी लोग दौड़-धूप करने लगे, और अन्य साम्राज्य-भोगियोंने अस्त्र और उत्साह देकर उनकी सहायता की। अब समझ सकते

हो कि इन कठिनाइयोंका सामना करना कितना कठिन था। पूँजीवादी—जो एक दिन सम्राट्के उपग्रह थे और किसानोंपर जिनका असीम प्रभुत्व था—उनका सर्वनाश होने लगा। लूट-खसोट, छीना-झपटी शुरू हो गई, सारी प्रजा अपने पुराने प्रभुओंकी बहुमूल्य भोग-सामग्रियोंका सत्यानास करनेपर तुल पड़ी। इतने बड़े उच्छृंखल उपद्रवके समय भी क्रान्तिकारियोंके नेताओंने कड़ा हुक्म दिया कि आर्टकी वस्तुओंको किसी तरह भी नष्ट न होने दो। धनियोंके छोड़े हुए प्रासाद-तुल्य मकानोंमें जो कुछ रक्षण-योग्य चीज-वस्त थी, अध्यापक और छात्रोंने मिलकर—भूख और जाड़ेसे कष्ट पाते हुए भी—सब ला-लाकर युनिवर्सिटीके म्यूज़ियममें सुरक्षित रख दिया।

याद है, हम जब चीन गये थे तो वहाँ क्या देखा था? यूरोपके साम्राज्य-भोगियोंने पेकिनका वसन्त-प्रासाद धूलमें मिला दिया, युगोंसे संग्रहीत अमूल्य शिल्प-सामग्रियोंको लूटकर उन्हें तोड़-ताड़कर नष्ट कर दिया। वैसी चीजें अब संसारमें कभी बन ही नहीं सकेंगी।

सोवियटोंने व्यक्तिगत-रूपसे धनिकोंको वंचित किया है, परन्तु जिस ऐश्वर्यपर मनुष्य-मात्रका चिर-अधिकार है, जंगलियोंकी तरह उसे नष्ट नहीं होने दिया। अब तक जो दूसरोंके भोगके लिए जमीन जोतते आये हैं, इन लोगोंने उन्हें सिर्फ जमीनका स्वत्व ही नहीं दिया, बल्कि ज्ञानके लिए—आनन्दके लिए—मानव-जीवनमें जो-कुछ मूल्यवान चीज है, सब कुछ दिया है। इस

बातको उन्होंने अच्छी तरह समझा है कि सिर्फ पेट-भरनेकी खुराक् पशुके लिए काफी है, मनुष्यके लिए नहीं, और इस बातको भी वे मानते हैं कि वास्तविक मनुष्यत्वके लिए पहलवानीकी अपेक्षा आर्ट या कलाका अनुशीलन बहुत बड़ी चीज है।

यह सच है कि विप्लवके समय इनकी बहुतसी ऊपरकी चीजें नीचे दब गई हैं, परन्तु वे मौजूद हैं, और उनसे म्यूजियम, थियेटर, लाइब्रेरियाँ और संगीतशालाएँ भर गई हैं।

एक दिन था, जब भारतकी तरह यहाँके गुणियोंके गुण भी मुख्यतः धर्म-मन्दिरोंमें ही प्रकट होते थे। महन्त लोग अपनी स्थूल रुचिके अनुसार जैसे चाहते थे, हाथ चलाया करते थे। आधुनिक शिक्षित भक्त बाबुओंने जैसे पुरीके मन्दिरपर पलस्तर करानेमें संकोच नहीं किया, उसी तरह यहाँके मन्दिरोंके मालिकोंने अपने संस्कारके अनुसार जीर्ण-संस्कार करके प्राचीन कीर्तिको बेखटके ढक दिया है—इस बातका खयाल भी नहीं किया कि उसका ऐतिहासिक मूल्य सार्वजनिक और सार्वकालिक है, यहाँ तक कि पूजाके पुराने पात्र तक नये ढलवाये हैं। हमारे देशमें भी मठ और मन्दिरोंमें बहुतसी चीजें ऐसी हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे मूल्यवान हैं; परन्तु कोई भी उसे काममें नहीं ला सकता—महन्त भी गहरे मोहमें डूबे हुए हैं—काममें लाने-योग्य बुद्धि और विद्यासे उनका कोई सरोकार ही नहीं। क्षिति बाबूसे सुना था कि मठोंमें अनेक प्राचीन पोथियाँ कैद हुई पड़ी हैं—जैसे दैत्यपुरीमें राजकन्या रहती है, उद्धार करनेका कोई रास्ता ही नहीं!

क्रान्तिकारियोंने धर्म-मन्दिरोंकी चहारदीवारीको तोड़कर उन्हें सर्वसाधारणकी सम्पत्ति बना दिया है। पूजाकी सामग्रियोंको छोड़कर बाकी सब सामान म्यूज़ियममें इकट्ठे किये जा रहे हैं। इधर जब कि आत्म-विप्लव चल रहा है, चारों ओर टाइफाइडका प्रबल प्रकोप हो रहा है, रेलके मार्ग सब नष्ट कर दिये गये हैं—ऐसे समयमें वैज्ञानिक अन्वेषकगण आसपासके क्षेत्रमें जा-जाकर प्राचीन कालकी शिल्प-सामग्रियोंका उद्धार कर रहे हैं। इतनी पोथियाँ, इतने चित्र, इतने खुदाईके कामके अलभ्य नमूने संग्रह किये हैं कि जिसकी हद नहीं।

यह तो हुआ धनिकोंके मकान और धर्म-मन्दिरोंमें जो कुछ मिला, उसका वर्णन। यहाँके मामूली किसान कारीगरोंकी बनाई हुई शिल्प-सामग्रियाँ, प्राचीन कालमें जिनकी अवज्ञा की जाती थी, उनका मूल्य भी ये समझने लगे हैं, और उधर इनकी दृष्टि है। सिर्फ चित्र ही नहीं, बल्कि लोक-साहित्य और लोक-संगीत आदिका काम भी बड़ी तेज़ीसे चल रहा है। यह हुआ इनका संग्रह।

इन संग्रहोंके द्वारा लोक-शिक्षाकी व्यवस्था की गई है। इससे पहले ही मैं इस विषयमें तुम्हें लिख चुका हूं। इतनी बातें मैं जो तुमको लिख रहा हूं, उसका कारण यह है कि अपने देशवासियोंको मैं जता देना चाहता हूं कि आजसे केवल दस वर्ष पहले रूसकी साधारण जनता हमारे यहाँकी वर्तमान साधारण जनताके समान ही थी; सोवियट-शासनमें उसी श्रेणीके



सोवियट विद्यार्थियोंमें रवीन्द्रनाथ

लोगोंको शिक्षाके द्वारा आदमी बना देनेका आदर्श कितना ऊँचा है। इसमें विज्ञान, साहित्य, संगीत, चित्रकला—सभी कुछ है; अर्थात् हमारे देशमें भद्र-नामधारियोंके लिए शिक्षाका जैसा-कुछ आयोजन है, यहाँकी व्यवस्था उससे कहीं अधिक सम्पूर्ण है।

अखबारोंमें देखा कि फिलहाल हमारे देशमें प्राथमिक शिक्षाका प्रचार करनेके लिए हुक्म जारी किया गया है कि प्रजासे कान पकड़कर शिक्षा-कर वसूल किया जाय; और वसूल करनेका भार दिया गया है जमींदारोंपर। अर्थात् जो वैसे ही अधमरे पड़े हैं, शिक्षाके बहाने उन्हींपर बोझ लाद दिया है।

शिक्षा-कर जरूर चाहिए, नहीं तो खर्चा कहाँसे चलेगा? परन्तु देशके हितके लिए जो कर है, उसे सब कोई मिलकर क्यों नहीं देंगे? सिविल-सर्विस है, मिलिटरी-सर्विस है, गवर्नर, वायसराय और उनके सदस्यगण हैं, उनकी भरी जेबोंमें हाथ क्यों नहीं पड़ता? वे क्या इन किसानोंकी ही रोज़ीमें से तनखाह और पेन्सन लेकर अन्तमें देशमें जाकर उसका भोग नहीं करते? जूट-मिलोंके जो बड़े-बड़े विलायती महाजन सन उपजानेवाले किसानोंके खूनसे मोटा मुनाफ़ा उठाकर देशको रवाना कर दिया करते हैं, उनपर क्या इन मृतप्राय किसानोंको शिक्षाका ज़रा भी दायित्व नहीं है? जो मिनिस्टरवर्ग शिक्षा-कानून पास करनेमें भर-पेट उत्साह प्रकट करते हैं, उन्हें क्या अपने उत्साहकी कानीकौड़ी कीमत भी अपनी जेबसे नहीं देना चाहिए?

क्या इसीका नाम है शिक्षासे सहानुभूति? मैं भी तो

एक जमींदार हूं, अपनी प्रजाकी प्राथमिक शिक्षाके लिए कुछ दिया भी करता हूं—और भी दो-तीन गुना अगर देना पड़े, तो देनेको तैयार हूं ; परन्तु यह बात उन्हें प्रतिदिन समझा देना जरूरी है कि मैं उनका अपना आदमी हूं, उनकी शिक्षासे मेरा ही हित है, और हम ही उन्हें देते हैं, राज्यके शासनमें ऊपरसे लेकर नीचे तक जिनका हाथ है, उनमेंसे कोई भी एक पैसा अपने पाससे नहीं देता।

सोवियट-रूसके जनसाधारणकी उन्नतिका भार बहुत ही ज्यादा है, उसके लिए आहार-विहारमें लोग कम कष्ट नहीं पा रहे हैं, परन्तु उस कष्टका हिस्सा ऊपरसे लेकर नीचे तक सबने समान रूपसे बांट लिया है। ऐसे कष्टको कष्ट नहीं कहूंगा, वह तो तपस्या है। प्राथमिक शिक्षाके नामसे सरसों-भर शिक्षाका प्रचलन कर भारत-सरकार इतने दिनों बाद दो सौ वर्षका कलंक धोना चाहती है, और मजा यह कि उसके दाम वे ही देंगे, जो दान देनेमें सबसे ज्यादा असमर्थ हैं, सरकारके लाड़ले अनेकानेक बाहनोंपर तो आँच तक न आने पायेगी—वे तो सिर्फ गौरव-भोग करनेके लिए हैं!

मैं अपनी आँखोंसे न देखता तो किसी कदर भी विश्वास न करता कि अशिक्षा और अपमानके खंदकमेंसे निकालकर सिर्फ दस ही वर्षके अन्दर लाखों आदमियोंको इन्होंने सिर्फ क ख ग घ ही नहीं सिखाया, बल्कि उन्हें मनुष्यत्वसे सम्मानित किया है। केवल अपनी ही जातिके लिए नहीं, दूसरी जातियोंके लिए भी इन्होंने समान उद्योग किया है। फिर भी साम्प्रदायिक धर्मके लोग इन्हें अधार्मिक बताकर इनकी निन्दा किया करते हैं। धर्म क्या सिर्फ पोथियोंके मन्त्रमें है,

देवता क्या केवल मन्दिरकी वेदीपर ही रहते हैं? मनुष्यको जो सिर्फ धोखा ही देते रहते हैं, देवता क्या उनमें कहींपर मौजूद हैं?

बहुतसी बातें कहनी हैं। इस तरह तथ्य संग्रह करके लिखनेका मुझे अभ्यास नहीं, पर न लिखना अन्याय होगा—इसीसे लिखने बैठा हूं। रूसकी शिक्षा-पद्धतिके बारेमें क्रमशः लिखनेका मैंने निश्चय कर लिया है। कितनी ही बार मेरे मनमें आया है कि और कहीं नहीं, रूसमें आकर तुम लगोंको सब देख जाना चाहिए। भारतसे बहुतसे गुप्तचर यहाँ आते हैं, क्रान्तिकारियोंका भी आना-जाना बना ही रहता है; मगर मैं समझता हूं कि और किसी चीजके लिए नहीं, सिर्फ शिक्षा-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए यहाँ आना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है।

खैर, अपनी बातें लिखनेमें मुझे उत्साह नहीं मिलता। आशंका होती है कि कहीं अपनेको आर्टिस्ट समझकर अभिमान न करने लग जाऊँ। परन्तु अब तक जो बाहरसे ख्याति मिली है, वह अन्तर तक नहीं पहुंची। बार-बार यही मनमें आता है कि वह ख्याति दैवके गुणसे मिली है, अपने गुणसे नहीं।

इस समय बीच समुद्रमें बह रहा हूं। आगे चलकर तकदीरमें क्या बदा है, मालूम नहीं। शरीर थक गया है, मनमें इच्छाओंका उफान नहीं है। रीते भिक्षापात्रके समान भारी चीज दुनियामें और कुछ भी नहीं, जगन्नाथको उसका अन्तिम अर्घ्य देकर न-जाने कब छुट्टी मिलेगी?

५ अक्टोबर, १९३०

१०

D. "Bremen"

विज्ञानकी शिक्षामें पुस्तक पढ़नेके साथ आँखोंसे देखनेका योग रहना चाहिए, नहीं तो उस शिक्षाका तीन-चौथाई हिस्सा बेकार चला जाता है। सिर्फ विज्ञान ही क्यों, अधिकांश शिक्षाओंपर यही बात घटती है। रूसमें विविध विषयोंके म्यूज़ियमों-द्वारा उस शिक्षामें सहायता दी जाती है। ये म्यूज़ियम सिर्फ बड़े-बड़े शहरोंमें ही नहीं, बल्कि हर प्रान्तमें छोटी-छोटी देहातों तकके लोगोंको प्रत्यक्ष ज्ञान कराते हैं।

आँखोंसे देखकर सीखनेकी दूसरी प्रणाली भ्रमण भी है। तुम्हें तो मालूम ही है कि मैं बहुत दिनोंसे भ्रमण-विद्यालयके संकल्पको मनमें लादे आ रहा हूं। भारतवर्ष इतना बड़ा देश है, सभी विषयोंमें उसका इतना अधिक वैचित्र्य है कि हंटरके गज़टियर पढ़कर सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। किसी समय हमारे देशमें पैदल भ्रमण करनेकी प्रथा थी—और हमारे तीर्थ भी भारतमें सर्वत्र व्याप्त हैं। भारतवर्षको यथासम्भव समग्ररूपसे प्रत्यक्ष जानने और अनुभवमें लानेका यही उपाय था। केवल शिक्षाको लक्ष्य बनाकर पाँच वर्ष तक छात्रोंको यदि

सारा भारतवर्ष घुमाया जाय, तो उनकी शिक्षा पक्की शिक्षा हो सकती है।

मन जब सचल रहता है, तब वह शिक्षाके विषयोंको सरलतासे ग्रहण कर सकता है और उसका परिपाक भी अच्छा होता है। बँधी हुई खुराकके साथ-साथ जैसे गायोंको खेतोंमें चरकर खाने देना भी जरूरी है, उसी तरह बँधी हुई शिक्षाके साथ-ही-साथ चरकर शिक्षा ग्रहण करना भी हृदय या मनके लिए अत्यन्त आवश्यक है। अचल विद्यालयोंमें कैद रहकर अचल श्रेणी या क्लासोंकी पुस्तकोंकी खुराकसे मनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। पुस्तकोंकी आवश्यकताको एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता—मनुष्यके लिए ज्ञानके विषय इतने अधिक हैं कि खेतमें चरकर पूरा पेट नहीं भरा जा सकता, भंडारसे ही उन्हें अधिकतर लेना पड़ता है। परन्तु पुस्तकोंके विद्यालयको साथ लेकर यदि प्रकृतिके विद्यालयमें भी छात्रोंको घुमाया जाय, तो फिर किसी तरहकी कमी न रहे। इस विषयमें बहुतसी बातें मेरे मनमें थीं और आशा थी कि यदि पूँजी मिले, तो किसी समय शिक्षा-परिव्रजन चला सकूंगा; परन्तु अब मेरे पास समय भी नहीं है और पूँजी भी नहीं मिल सकती।

सोवियट-रूसमें, जैसा कि देख रहा हूं, सर्वसाधारणके लिए देश-भ्रमणकी व्यवस्थाका भी काफी प्रसार हो रहा है। विशाल इनका देश है, विचित्र जातियोंके मनुष्य उसके अधिवासी हैं। जारके शासनकालमें एक तरहसे इनको परस्पर भेंट-मुलाकात, जान-पहचान

और मिलने-जुलनेकी सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि उस समय देश-भ्रमण एक शौककी चीज़ थी, और वह धनाढ्योंके लिए ही सम्भव था। सोवियटके ज़मानेमें सर्व-साधारणके लिए उसकी व्यवस्था है। परिश्रमसे थके हुए तथा रुग्न मजूरोंकी थकावट और रोग दूर करनेके लिए पहलेसे ही सोवियटोंने दूर और निकटवर्ती अनेक स्थानोंमें स्वास्थ्य-निवासोंकी स्थापनाके लिए उद्योग किया है। पहले ज़मानेके बड़े-बड़े महल-मकानोंको उन लोगोंने इसी काममें लगा दिया है। उन सब स्थानोंमें जाकर जैसे विश्राम और आरोग्य लाभ करना एक लक्ष्य है, उसी तरह दूसरा लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना भी है।

लोक-हितके प्रति जिनका अनुराग है, इस भ्रमणके समय वे नाना स्थानोंमें जाकर नाना प्रकारके मनुष्योंकी अनुकूलताके विषयमें भी चिन्ता करते हैं, और यही उसके लिए अच्छा अवसर है। जनसाधारणको देश-भ्रमणके लिए उत्साहित करने और उसके लिए उन्हें सुविधाएँ देनेके लिए रास्तेमें बीच-बीचमें खास-खास विषयोंकी शिक्षा देनेके योग्य संस्थाएँ खोली गई हैं; वहाँ पथिकोंके खाने-पीने और रहने-सोनेका इन्तज़ाम है; इसके सिवा सब तरहके ज़रूरी विषयोंमें वहाँसे उन्हें अच्छी सलाह भी मिल सकती है। काकेशिया प्रान्त भूतत्त्वकी आलोचनाके लिए एक उपयोगी स्थान है। वहाँ इस तरहके पान्थ-शिक्षालयोंमें भूतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष व्याख्यान दिये जाते हैं। जो प्रान्त विशेष रूपसे मनुष्यतत्त्वकी आलोचनाके

लिए उपयुक्त हैं, उन स्थानोंमें मनुष्यतत्त्वके विशेषज्ञ उपदेशक तैयार किये गये हैं।

गरमियोंके दिनोंमें हज़ारों भ्रमणेच्छु दफ्तरोंमें जाकर अपने नाम दर्ज कराते हैं। इस तरहकी यात्राएँ मई महीनेसे शुरू होती हैं—प्रतिदिन दलके दल नाना मार्गोंसे यात्रा करनेके लिए निकल पड़ते हैं—एक-एक दलमें पचीस-तीस यात्री होते हैं। सन् १९२८ में इन यात्रि-संघोंके सदस्योंकी संख्या थी तीन हज़ारके लगभग—२९ में उनकी संख्या हुई है बारह हज़ारसे भी ऊपर।

इस विषयमें यूरोपके अन्य स्थानों या अमेरिकासे तुलना करना ठीक न होगा; हमेशा याद रखना चाहिए कि रूसमें आजसे दस वर्ष पहले मजदूरोंकी दशा हमारे ही समान थी,—इस बातका किसीको आभास तक न था कि वे शिक्षा प्राप्त करेंगे, विश्राम करेंगे या स्वास्थ्य-सम्पन्न होंगे,—आज इन लोगोंको जो सुविधाएँ सहज ही में मिल रही हैं, वे हमारे यहाँके मध्यम श्रेणीके गृहस्थोंके लिए तो आशातीत हैं और धनिकोंके लिए भी सहज नहीं हैं। इसके सिवा यहाँ शिक्षा प्राप्त करनेकी धारा सारे देश-भरमें एकसाथ इतनी प्रणालियोंसे बह रही है कि सिविल-सर्विससे संरक्षित हमारे देशवासी उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते।

जैसी शिक्षाकी व्यवस्था है, वैसी ही स्वास्थ्यकी। स्वास्थ्य-तत्त्वके विषयमें सोवियट-रूसमें जैसा वैज्ञानिक अनुशीलन हो

रहा है, उसे देखकर यूरोप और अमेरिकाके विद्वान भी इनकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते हैं। सिर्फ मोटी तनखावाले विशेषज्ञोंसे पुस्तकें लिखवाना ही इनके कर्तव्यकी हद हो, सो बात नहीं, ये तो इस कोशिशमें हैं कि साधारण जनतामें भी स्वास्थ्य-विज्ञानके प्रयोगोंको व्याप्त कर दें ; यहाँ तक कि देशकी चौरंगीसे जो बहुत दूर रहते हैं, वे भी अस्वास्थ्यकर अवस्थामें बिना सेवा और इलाजके न मरने पावें—वहाँ तक ये अपनी पूरी दृष्टि दौड़ाते हैं।

हमारे देशमें घर-घर यक्ष्मा या क्षयरोग फैला हुआ है—रूस आनेके बाद इस प्रश्नको मनसे दूर कर ही न सका कि हमारे यहाँ गरीब मुमूर्षुओंके लिए कितने आरोग्याश्रम हैं? इस समय यह प्रश्न मेरे हृदयमें इसलिए और भी उठ खड़ा हुआ है कि ईसाई धर्मयाजक लोग भारत-शासनकी बड़ी-भारी डिफिकल्टीज़के बारेमें अमेरिकावालोंके सामने रोया-झींका करते हैं।

डिफिकल्टीज़ हैं क्यों नहीं, ज़रूर हैं। एक ओर उन डिफिकल्टीज़ोंकी जड़में है भारतीयोंकी अशिक्षा और दूसरी ओर है भारत-शासनकी बहुव्ययिता—अनापशनाप खर्च। उसके लिए किसे दोष दिया जाय? रूसमें अन्न-वस्त्रका अभाव आज भी दूर नहीं हुआ है ; रूस भी बहु-विस्तृत देश है, वहाँ भी बहुत विचित्र जातियोंका वास है, वहाँ भी अज्ञान और स्वास्थ्यतत्त्वके विषयमें पर्वत-प्रमाण अनाचार मौजूद था, परन्तु फिर भी, न तो वहाँ शिक्षा-प्रचारमें किसी तरहकी बाधा है

और न स्वास्थ्य-प्रचारमें कोई अड़चन, इसीलिए बिना प्रश्न किये रहा नहीं जाता कि डिफिकल्टीज़ दर-असल हैं किस जगह ?

जो मेहनत-मजदूरी करके पेट भरते हैं, उन्हें सोवियट स्वास्थ्य-निवासोंमें बिना खर्चके रहने दिया जाता है, और उन स्वास्थ्य-निवासोंके साथ-ही-साथ आरोग्य-आश्रम (Sanatorium) भी होते हैं। वहाँ सिर्फ चिकित्सा ही नहीं, बल्कि पथ्य और शुश्रूषाकी भी उचित व्यवस्था रहती है। ये सभी व्यवस्थाएँ सर्वसाधारणके लिए हैं; और सर्वसाधारणमें ऐसी सभी जातियाँ शामिल हैं, जिन्हें यूरोपीय नहीं कहा जा सकता, और यूरोपके आदर्शके अनुसार जिन्हें असभ्य कहा जाता है।

इस तरहकी पिछड़ी हुई जातियोंको—जो यूरोपीय रूसके किनारे या बाहर बस रही हैं—शिक्षाके लिए सन् १९२८ के बजटमें कितने रुपये स्वीकृत किये गये हैं, उसे देखनेसे ही पता चल जायगा कि शिक्षा-प्रचारके लिए इनका कैसा उदार प्रयत्न है। यूक्रेननियन रिपब्लिकके लिए ४० करोड़ ३० लाख, अति-ककेशीय रिपब्लिकके लिए १३ करोड़ ४० लाख, उजबेकिस्तानके लिए ९ करोड़ ७० लाख और तुर्कमेनिस्तानके लिए २ करोड़ ९ लाख रूबल मंजूर किये गये हैं।

अनेक देशोंमें अरबी लिपिका प्रचलन होनेके कारण शिक्षा प्रचारमें अड़चन होती थी, वहाँ रोमन लिपि चलाकर वह अड़चन दूर कर दी गई है।

जिस बुलेटिनसे यह तथ्य संग्रह किया गया है, उसके दो अंश उद्धृत किये जाते हैं :—

"Another of the most important tasks in the sphere of culture is undoubtedly the stabilization of local administrative institutions and the transfer of all local government and administrative work in the federative and autonomous republics to a language which is familiar to the toiling masses. This is by no means simple, and great efforts are still needed in this regard, owing to the low cultural level of the mass of the workers and peasants, and lack of sufficient skilled labour."

इसकी जरा व्याख्या कर देना जरूरी है। सोवियट-संगठनके अन्तर्गत कई रिपब्लिक और स्वतंत्र-शासित (autonomous) देश हैं। वे प्रायः यूरोपीय नहीं हैं, और वहांका आचार-व्यवहार भी आधुनिक कालसे नहीं मिलता। उद्धृत अंशसे समझ सकते हैं कि सोवियटोंके मतानुसार देशका शासन-तंत्र देशवासियोंकी शिक्षा ही का एक प्रधान उपाय और अंग है।

हमारे देशकी राष्ट्र-संचालनकी भाषा यदि देशवासियोंकी अपनी भाषा होती, तो शासन-तंत्रकी शिक्षा उनके लिए सुगम हो जाती। राष्ट्रकी भाषा अंगरेजी होनेसे सर्वसाधारणके लिए शासननीतिके विषयमें स्पष्ट धारणा वा ज्ञान प्राप्त करना पहुंचके बाहरकी बात ही बनी रही। बीचमें कोई मध्यस्थ बनकर उनका उससे योग कराता है, परन्तु प्रत्यक्ष सम्बन्ध कुछ नहीं रहा। एक ओर जैसे आत्मरक्षाके लिए अस्त्र चलानेकी शिक्षा और अभ्याससे जनता वंचित है, वैसे

ही दूसरी ओर वह देश-शासनकी नीतिके ज्ञानसे भी वंचित है। राष्ट्र-शासनकी भाषा भी दूसरोंकी भाषा होनेसे पराधीनताके नागपाशकी गाँठ और भी दृढ़ हो गई है। राजमंत्रणा-सभामें अंगरेज़ी भाषामें जो आलोचनाएँ हुआ करती हैं, उसकी सफलता कहाँ तक है, हम अनाड़ी उसे नहीं समझते; परन्तु उससे जो प्रजाको शिक्षा मिल सकती थी, वह बिलकुल नहीं मिली।

दूसरा अंश यह है:—

"Whenever questions of cultural-economic construction in the national republics and districts come before the organs of the Soviet Government, they are settled not on the line of guardianship, but on the lines of the maximum development of independence among the broad masses of workers and peasants and of initiative of the local Soviet organs."

जिनका यहाँ उल्लेख किया गया है, वे पिछड़ी हुई जातियाँ हैं। उनकी शुरूसे लेकर अन्त तक समस्त डिफिकल्टीज़ दूर कर देनेके लिए सोवियटोंने दो सौ वर्ष चुपचाप बैठे रहनेका बन्दोबस्त नहीं किया। पिछले दस वर्षोंमें लगातार उनके लिए प्रयत्न होता रहा है। सब देख-भालकर मैं सोच रहा हूं कि हम क्या उज़बेकों और तुर्कमानियोंसे भी पिछड़े हुए हैं? हमारी डिफिकल्टीज़का माप क्या इनसे भी बीस गुना बड़ा है?

एक बातकी याद उठ आई। इनके यहाँ खिलौनोंके म्यूज़ियम हैं। इन खिलौनोंके संग्रहका संकल्प मेरे मनमें

ज़मानेसे चक्कर काट रहा है। तुम्हारे यहाँ नन्दनालय और कला-भंडारमें आखिर यह काम शुरू हुआ तो सही, यह खुशीकी बात है। रूससे कुछ खिलौने मिले हैं। लगभग हमारे ही समान हैं।

पिछड़ी हुई जातियोंके सम्बन्धमें और भी कुछ कहना है। कल लिखूँगा। परसों सबेरे पहुंचूंगा न्यूयार्क,—उसके बाद लिखनेको काफी समय मिलेगा या नहीं, कौन कह सकता है?

७ अक्टोबर, १९३०

११

पिछड़ी हुई जातियोंकी शिक्षाके लिए सोवियट रूसमें कैसा उद्योग हो रहा है—यह बात मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूं। आज दो-एक दृष्टान्त देता हूं।

उराल पर्वतके दक्षिणमें बास्किरोंका निवास है। ज़ारके ज़मानेमें वहाँकी साधारण प्रजाकी दशा हमारे ही देशके समान थी। वे जीवन-भर चिर-उपवासके किनारेसे ही चला करते थे। तनख्वाह उन्हें बहुत कम मिलती थी, किसी कारखानेमें ऊँचे पदपर काम करने लायक उनमें शिक्षा या योग्यता नहीं

थी, इसलिए परिस्थितिके कारण उन्हें सिर्फ मजदूरीका ही काम करना पड़ता था। क्रान्तिके बाद इस देशकी प्रजाको स्वतंत्र शासनके अधिकार देनेका प्रयत्न शुरू हुआ।

पहले जिनपर भार पड़ा था, वे थे पहले ज़मानेके धनी ज़मींदार-किसान, धर्मयाजक पढ़े-लिखे लोग—वर्तमानमें हम जिन्हें शिक्षित कहते हैं। सर्वसाधारणको इससे कुछ सहूलियत नहीं हुई। और उसपर ठीक उसी समय कलचाककी सेनाने उपद्रव शुरू कर दिया। वह थी ज़ारके ज़मानेकी पक्षपातिनी, उसके पीछे था शक्तिशाली बाहरी शत्रुओंका उत्साह और सहानुभूति। सोवियटोंने किसी तरह उन्हें भगाया भी, तो फिर आ गया दुर्भिक्ष। खेती-बारीकी व्यवस्था सब नष्ट हो गई!

सन् १९२२ से सोवियट सरकारका काम ठीक तरहसे चालू हो सका है। तबसे देशमें शिक्षा-प्रचार और अर्थोत्पत्तिकी व्यवस्था तेजीके साथ होने लगी। इससे पहले बास्किरियामें लगभग सर्वव्यापी निरक्षरता थी। इन्हीं कई वर्षोंमें यहां आठ लो नार्मल स्कूल, पाँच कृषि-विद्यालय, एक डाक्टरी शिक्षालय तथा अर्थकरी विद्या सिखानेके लिए दो, कल-कारखानेके काममें हाथ साधनेके लिए सत्रह, प्राथमिक शिक्षाके लिए २४९५ और मध्य-प्राथमिक शिक्षाके लिए ८७ स्कूल खुल गये। आज बास्किरियामें दो सरकारी थियेटर हैं, दो म्यूज़ियम हैं, चौदह नगर-पुस्तकालय हैं, १२२ ग्राम्य वाचनालय (Reading room) हैं, तीस सिनेमा शहरमें और ४६ ग्रामोंमें हैं। किसान किसी कामसे शहरमें

आवें, तो उनके ठहरनेके लिए अनेक मकान हैं, ८६१ खेल-कूदके और विश्रामके स्थान (Recreation corners) हैं, इसके अलावा हजारोंकी संख्यामें—मजदूर और किसानोंके लिए—रेडियो यंत्र हैं। वीरभूम जिलेके लोग बास्किरोंकी अपेक्षा निःसन्देह स्वभावतः उन्नत श्रेणीके जीव हैं। बास्किरिया और वीरभूमकी शिक्षा और आरामकी व्यवस्थाकी तुलना कर देखो। साथ ही दोनोंकी डिफिक्ल्टीज़ोंकी तुलना भी करनी चाहिए।

सोवियट राष्ट्रसंघमें जितनी भी रिपब्लिक हुई हैं, उन सबमें तुर्कमेनिस्तान और उजबेकिस्तान ही नई हैं। उनकी स्थापना हुई है १९२४ के अक्टोबरमें, अर्थात् उनकी उम्र अभी छै वर्षसे भी कम है। तुर्कमेनिस्तानकी जनसंख्या कुल मिलाकर साढ़े-दस लाख है, जिसमें नौ लाख आदमी खेती करते हैं। परन्तु अनेक कारणोंसे खेतोंकी अवस्था सन्तोषजनक नहीं है, पशु-पालनका धन्धा भी ऐसा ही है।

ऐसे देशको बचानेका उपाय है कारखानेका काम खोलना, जिसे industrialization कहते हैं। विदेशी या देशी महाजनोंकी जेबें भरनेके लिए कारखानेकी स्कीम नहीं है, यहाँके कारखानोंका स्वत्त्व है सर्वसाधारणका। इसी छोटेसे अर्सेमें एक सूतकी मिल और रेशमका कारखाना खोला गया है। आशकाबाद शहरमें एक बिजली-घर (पावर-हाउस) स्थापन किया गया है और अन्य शहरोंमें भी उद्योग चल रहा है। यंत्र चलानेवाले मजदूरोंकी जरूरत है, और इसके लिए काफी संख्यामें तुर्कमेनी

युवकोंको मध्य-एशियाके बड़े-बड़े कारखानोंमें काम सिखानेके लिए भेजा जाता है। हमारे देशमें युवकोंके लिए विदेशियोंसे परिचालित कारखानोंमें काम सीखनेका मौका पाना कितना दुःसाध्य है—इस बातको सभी जानते हैं।

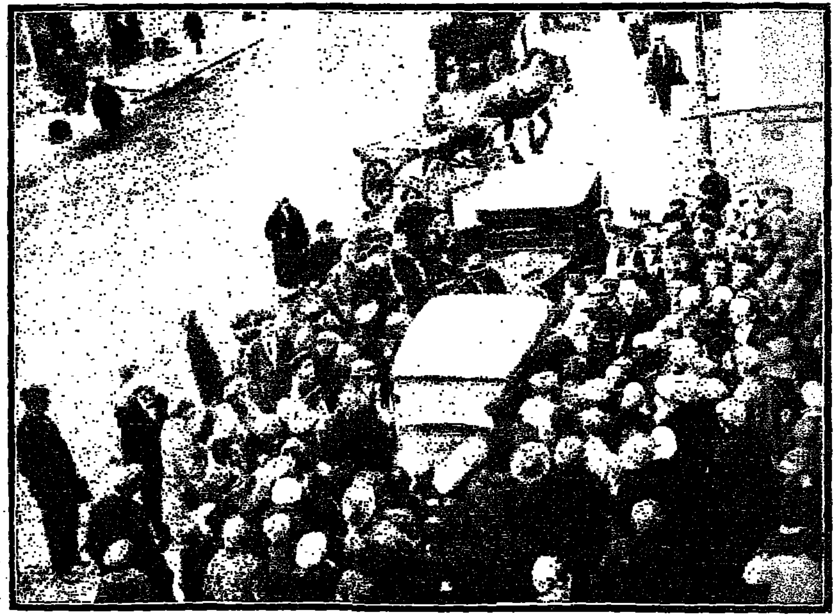
बुलेटिनमें लिखा है—तुर्कमेनिस्तानमें शिक्षाकी व्यवस्था करना इतना कठिन है कि उसकी तुलना शायद अन्यत्र कहीं ढूँढ़े नहीं मिलेगी। बस्तियाँ बहुत कम और दूर-दूर हैं, सड़कोंकी कमी, पानीका अभाव और बस्तियोंके बीच-बीचमें बड़ी-बड़ी मरुभूमि—इन सब कारणोंसे लोगोंकी आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय है।

फिलहाल शिक्षाका खर्च आदमी-पीछे पाँच रूबल पड़ता है। इस देशकी कुल प्रजा-संख्यामें एक-चौथाई आदमी यायावर या बंजारे (nomads) हैं। उनके लिए प्राथमिक पाठशालाओंके साथ-साथ बोर्डिंग-स्कूल भी खोले गये हैं, और वे ऐसे स्थानपर जहाँ कुआँ या बावड़ी आदिके आसपास बहुतसे परिवार इकट्ठे होते हैं। विद्यार्थियोंके लिए अखबार भी प्रकाशित किये जाते हैं।

मास्को शहरमें नदी-किनारे पुराने ज़मानेके एक उद्यान-वेष्टित सुन्दर प्रासादमें तुर्कमेनोंके लिए शिक्षक तैयार करनेके लिए एक विद्या-भवन (Turcomen People's Home of Education) स्थापित हुआ है। वहाँ इस समय एक सौ तुर्कमेन छात्र शिक्षा पा रहे हैं, जिनकी उम्र है बारह या तेरह सालकी। इस विद्या-भवनकी व्यवस्था स्वायत्त-शासननीतिके अनुसार

होती है। इसकी व्यवस्थामें कईएक कार्य-विभाग हैं; जैसे—स्वास्थ्य-विभाग, गार्हस्थ्य-विभाग (Household commission), क्लास कमेटी आदि। स्वास्थ-विभाग देखता है कि सब कमरों (compartments), क्लासों और आँगन वगैरहमें सफाई रहती है या नहीं। कोई लड़का अगर बीमार पड़ जाय—फिर चाहे वह मामूलीसे मामूली बीमारी क्यों न हो—तो उसके लिए डाक्टर बुलाने और इलाज करनेका भार इसी विभागपर है। गार्हस्थ विभागके अन्तर्गत बहुतसे उपविभाग हैं। इस विभागका कर्तव्य है कि वह इस बातकी देखभाल रखे कि लड़के साफ-सुथरे रहते हैं या नहीं। क्लासमें पढ़ते समय लड़कोंके आचरणपर दृष्टि रखना क्लास-कमेटीका काम है। प्रत्येक विभागसे प्रतिनिधि चुनकर अध्यक्ष-सभा बनाई जाती है। इस अध्यक्ष-सभाके प्रतिनिधियोंको स्कूल-कौन्सिलमें वोट देनेका अधिकार प्राप्त है। लड़कोंका आपसमें या और किसीके साथ झगड़ा-टंटा हो जाय, तो अध्यक्ष-सभा उसकी जाँच करती है; और यह सभा जो फैसला देती है, उसे सब छात्र माननेके लिए बाध्य हैं।

इस विद्या-भवनके साथ एक क्लब है। वहाँ अकसर बहुतसे लड़के मिलकर अपनी भाषामें नाटक खेलते और गाते-बजाते हैं। क्लबका अपना एक सिनेमा भी है, जिसमें लड़कोंको मध्य-एशियाके जीवन-यात्राकी चित्रावली दिखाई जाती है। इसके सिवा दीवारोंपर टाँगनेके अखबार भी निकाले जाते हैं।



चित्र-प्रदर्शनीमें रवीन्द्रनाथका आगमन

तुर्कमेनिस्तानको खेतीकी उन्नतिके लिए वहाँ काफी संख्यामें कृषि-विद्याके विशेषज्ञ भेजे जाते हैं। दो सौ से अधिक आदर्श कृषि-क्षेत्र खोले गये हैं। इसके सिवा पानी और ज़मीनके व्यवहारके सम्बन्धमें ऐसी व्यवस्था की गई है कि बीस हजार गरीब-से-गरीब किसान-परिवारोंको खेतीके लिए खेत, पानी और कृषिके वाहन (बैल घोड़े आदि) आसानीसे मिल गये हैं।

इस कम प्रजावाले देशमें १३० अस्पताल खोले गये हैं, और डाक्टरोंकी संख्या है छै सौ। बुलेटिनके लेखक सलज्ज भाषामें लिखते हैं :—

"However, there is no occasion to rejoice in the fact, since there are 2,640 inhabitants to each hospital bed, and as regards doctors, Turomenistan must be relegated to the last place in the Union, We can boast of some attainments in the field of modernization and the struggle against crass ignorance, though again we must warn the reader that Turomenistan, being on a very low level of civilization, has preserved a good many customs of the distant past. However, the recent laws, passed in order to combat the selling of women into marriage and child marriages, had produced the desired effect."

तुर्कमेनिस्तान-जैसे मरु-प्रदेशमें ६ सालके अंदर १३० अस्पताल खोले गये, इसके लिए ये शर्मिन्दा हो रहे हैं—ऐसी शर्म देखनेका अभ्यास हमें नहीं है, इसलिए हमें आश्चर्य हुआ। हमें अपने सामने बहुतसी डिफिकल्टीज़ दिखाई दीं, और यह

लक्षण भी दिखाई दिया कि वे जल्दी टससे मस होनेवाली नहीं हैं, किन्तु सवाल तो यह है कि उसके लिए हममें विशेष लज्जा क्यों नहीं दिखाई देती ?

सच बात तो यह है कि मेरे हृदयसे भी इसके पहले देशके लिए काफी आशा करनेका साहस जाता रहा था। ईसाई पादरियोंकी तरह मैं भी डिफिकल्टीज़ोंका हिसाब देखकर दंग रह गया था—मन-ही-मन कहता था कि इतने विचित्र जातियोंके मनुष्य हैं, इतनी विचित्र जातियोंकी मूर्खताएँ हैं, इतने परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं, ऐसी दशामें न-जाने कितने दिन लगेंगे अपने दुःखोंका बोझ हटानेमें—अपने कलुष-कालिमाको धोनेमें।

साइमन-कमीशनकी फसल जिस आब-हावमें फली है, अपने देशके सम्बन्धमें मेरी प्रत्याशाकी भीरुता भी उसी आब-हावकी उपज है। सोवियट-रूसमें आकर देखा कि यहाँकी उन्नतिकी घड़ी हमारी ही घड़ीकी तरह बंद थी—कमसे कम सर्वसाधारणके घरोंमें; किन्तु यहाँ आज सैकड़ों वर्षोंसे बंद-पड़ी घड़ीमें आठ-दस वर्ष चाबी भरते ही वह मज़ेमें चलने लगी है। इतने दिनों बाद समझ सका हूं कि हमारी घड़ी भी चल सकती थी, किन्तु चाबी नहीं भरी गई। डिफिकल्टीज़के मंत्र परसे अब मेरा विश्वास उठ गया है।

अब बुलेटिनमें से दो-चार अंश उद्धृत करके चिट्ठी समाप्त करूंगा :—

"The imperialist policy of the Czarist generals, after the conquest of Azerbaijan, consisted in converting the districts, inhabited by Mahommedans into colonies, destined to supply raw material to the central Russian markets."

याद है, बहुत दिन हुए स्वर्गीय अक्षयकुमार मैत्रेय तब रेशमकी खेतीके बारेमें बड़े उत्साही थे, उनकी सलाहसे मैं भी रेशमकी खेतीके प्रचारके काममें लगा हुआ था। उन्होंने मुझसे कहा था – "रेशमकी खेतीमें मजिस्ट्रेटसे मुझे बहुत-कुछ सहयोग मिला है, परन्तु जितनी बार इन कोओंसे सूत और सूतसे कपड़े बुननेका काम किसानोंमें चालू करनेकी इच्छा प्रकट की, उतनी ही बार मजिस्ट्रेटने उसमें बाधा पहुँचाई।"

"The agents of the Czar's Government were ruthlessly carrying out principle of 'Divide and Rule' and did all in their power to sow hatred and discord between the various races. National animosities were fostered by the Government and Mahommedans and Armenians were systematically incited against each other. The ever-recurring conflicts between these two nations at times assumed the form of massacres."

अस्पतालोंकी अल्प संख्याके विषयमें बुलेटिन-लेखकने अपनी लज्जाको स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु एक विषयमें अपना गौरव प्रकट किये बिना उनसे रहा नहीं गया :—

"It is an undoubted fact, which even the worst enemies of the Soviets cannot deny: for the last eight years the peace between the races of Azerbaijan has never been disturbed".

भारतवर्षके राज्यमें लज्जा प्रकट करनेका चलन नहीं है, गौरव प्रकट करनेका भी रास्ता नहीं देखनेमें आता।

इस लज्जा-स्वीकारके प्रसंगमें एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह यह कि बुलेटिनमें लिखा है—सारे तुर्कमेनिस्तानमें शिक्षाके लिए आदमी-पीछे पाँच रुबल खर्च किये जाते हैं। रुबलका मूल्य हमारे देशके रुपयेके हिसाबसे ढाई रुपया है। पाँच रुबलका मतलब है साढ़े-बारह रुपया। इसके लिए कर वसूलीका कोई ज़रिया होगा अवश्य, पर वह ऐसा नहीं है कि जो प्रजामें अपने अंदर आत्म-विरोध पैदा कर दे।

८ अक्टोबर, १९३०

१२

ब्रेमेन जहाज

तुर्कमेनियोंके विषयमें पहले ही लिख चुका हूं कि वे मरुभूमि-निवासी संख्यामें दस लाख हैं। यह चिट्ठी उसीका परिशिष्ट है। सोवियट-सरकारने वहाँ कौन-कौनसे विद्यामंदिर स्थापित करनेका संकल्प किया है, उसकी एक सूची दे रहा हूं:—

Beginniug with October 1st, 1930, the new budget year, a number of new scientific institutions and Institutes will be opened in Turcomenia, namely:

1. Turcomen Geological Committee ;

2. Turcomen Institute of Applied Botany ;

3. Institute for study and research of stock breeding ;

4. Institute of Hydrology and Geophysics ;

5. Institute for Economic Research ;

6. Chemico-Bacteriological Institute, and Institute of Social Hygiene.

The activity of all the scientific institutions of Turcomenia will be regulated by a special scientific management attached to the Council of People's Commissars of Turcomenia.

In connection with the removal of the Turcomen Government from Ashkhabad to Chardjni the construction of buildings for the following museums has been started:—Historical, Agricultural, Industrial and Trade Museum, Art Museum, Museums of the Revolution. In addition, the construction of an Observatory, State Library, House of published books and House of Science and Culture is planned.

The Department of Language and Literature of the Institute of the Turcomen Culture has completed the revision and translation into Russian of Turcomenian poetry including folk-lore material and old poetry texts.

Five itinerant cultural bases have been organized in Turcomenia. During the year 1930 two courses for training practical nurses and midwives were completed. Altogether 46 persons were graduated. All graduates are sent to the village.

८ अक्टोबर, १९३०

सोवियट-रूसके साधारण जन-समाजको शिक्षा देनेके लिए कितने विविध प्रकारके उपाय काममें लाये गये हैं, उसका कुछ-कुछ आभास पहलेकी चिट्ठियोंसे मिल गया होगा। आज तुम्हें उन्हींमेंसे एक उद्योगका संक्षिप्त विवरण लिख रहा हूं।

कुछ दिन हुए मास्को शहरमें सर्वसाधारणके लिए एक आराम-बाग कायम किया गया है। बुलेटिनमें उसका नाम दिया है—Mascow Park of Education and Recreation. उसमें एक प्रधान मंडप है, जो प्रदर्शनीके लिए है। यदि कोई चाहे, तो वहाँसे मालूम कर सकता है कि समस्त प्रान्तोंमें कारखानोंके हज़ारों मजदूरोंके लिए कितने अस्पताल खोले गये, मास्को प्रान्तमें स्कूलोंकी संख्यामें कितनी वृद्धि हुई; म्यूनिसिपल विभाग दिखा रहा है कि मजदूरोंके रहनेके लिए कितने नये मकान तैयार हुए, कितने नये बगीचे बने, शहरमें कितने विषयोंकी कितनी उन्नति हुई, इत्यादि। प्रदर्शनीमें अनेक प्रकारके माडेल (नमूने) दिखाये गये हैं, जैसे—पुराने ज़मानेके गई-गाँव, आधुनिक ग्राम, फल-फूल और सब्ज़ियाँ पैदा करनेके आदर्श खेत, सोवियट ज़मानेके सोवियट कारखानोंमें जो यंत्र (मशीनरी) बनाये जाते हैं, उनके नमूने,

आजकलकी को-आपरेटिव व्यवस्थासे कैसे रोटी बनती है और पिछली क्रान्तिके समय कैसे बनती थी, इत्यादि। इसके अलावा और भी तरह-तरहके तमाशे हैं, और विभिन्न प्रकारके खेलके स्थान हैं, रोज़ एक-न-एक मेला-सा लगा रहता है।

पार्कमें छोटे लड़कोंके लिए एक अलग स्थान है, वहाँ बड़ी उम्रवाले नहीं जा सकते। प्रवेश-द्वारपर लिखा हुआ है—'लड़कोंको तंग न करो'। यहाँ लड़कोंके खेलनेके हरएक तरहके खिलौने, खेल, बच्चकानी थियेटर आदि हैं, जिनके लड़के ही संचालक हैं और लड़के ही अभिनेता।

इस लड़कोंके विभागसे कुछ दूरीपर है Creche, हिन्दीमें जिसे 'शिशु-रक्षणी' कहा जा सकता है। पिता-माता जब पार्कमें टहलने लगते हैं, तो छोटे बच्चोंको वे यहाँ धायोंके पास छोड़ जा सकते हैं। क्लबके लिए एक दुमंज़िला मंडप (Pavillion) है। ऊपर लाइब्रेरी है। कहीं शतरंज खेलनेका सरंजाम है, तो कहीं दीवालपर मानचित्र और अखबार पढ़नेका इन्तज़ाम है। इसके सिवा सर्वसाधारणके लिए भोजनकी बहुत अच्छी को-आपरेटिव दुकानें हैं, वहाँ शराब बेचना मना है। मास्को-पशुशाला-विभागकी तरफसे यहाँ एक दुकान खुली है, जिसमें तरह-तरहका पक्षि-मांस और पौधे बिका करते हैं। प्रान्तीय शहरोंमें भी इस प्रकारके पार्क बनाये जानेका प्रस्ताव हो रहा है।

जो बात विचार करनेकी है, वह यह है कि ये सर्वसाधारणको भद्र-साधारणके उच्छिष्टसे आदमी नहीं बनाना चाहते। उनके लिए

शिक्षा, आराम, जीवन-यात्राके सुयोग आदि पूरी तौरसे दिये जाते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि जनसाधारणके सिवा यहाँ और कुछ है ही नहीं। समाज-ग्रन्थके केवल परिशिष्ट अध्यायमें ही इनका स्थान हो सो बात नहीं, सब अध्यायोंमें ये ही हैं।

और एक दृष्टान्त देता हूं। मास्को शहरसे कुछ दूरीपर पुराने ज़मानेका एक प्रासाद है। रूसके अभिजातवंशके काउन्ट अप्राक्सिन लोग उसमें रहते थे। पहाड़के चारों तरफका दृश्य बहुत ही सुन्दर है—खेत, नदी और पहाड़ी जंगल है, दो सरोवर और बहुतसे झरने हैं। विशाल स्तम्भ, ऊँचे बरामदे, पुराने ज़मानेके असबाब, चित्र और पत्थरकी मूर्तियोंसे सुसज्जित दरबार, संगीतशाला, खेलनेके घर और लाइब्रेरी, नाट्यशाला, बहुतसे सुन्दर बैठकखाने—इन सबने प्रासादको अर्द्धचन्द्राकार घेर रखा है।

अब उस विशाल प्रासादमें 'आलगाभो' नामसे एक को-आपरेटिव स्वास्थ्यागार खोला गया है—ऐसे आदमियोंके लिए जो किसी दिन उस प्रासादमें गुलाम बनकर रहते थे। सोवियट-राष्ट्रसंघमें एक को-आपरेटिव सोसाइटी है, जिसका मुख्य काम है मजदूरोंके लिए मकान बनवाना; उस सोसाइटीका नाम है 'विश्रान्ति-निकेतन' The Home of Rest. 'आलगाभो' स्वास्थ्यागार इसी सोसाइटीकी देखरेखमें चलता है।

इस तरहके और भी चार सैनिटोरियम इसके हाथमें हैं। काम-काजकी मौसिम खतम हो जानेपर कम-से-कम तीस हजार परिश्रमसे थके हुए मजदूर-किसान इन पाँचों आरोग्यशालाओंमें आकर विश्राम

कर सकते हैं। प्रत्येक आदमी पंद्रह दिन तक यहाँ रह सकता है। खाने-पीनेका इन्तजाम अच्छा और पर्याप्त है, आरामका बन्दोबस्त काफी है और डाक्टरकी व्यवस्था भी ठीक है। को-आपरेटिव पद्धतिसे चलनेवाले इन विश्रान्ति-निकेतनोंकी स्थापनाका उद्योग क्रमशः सर्वसाधारणकी सहानुभूति और सम्मति प्राप्त कर रहा है।

यह ठीक है कि मजदूरोंके लिए इस ढंगके विश्रामकी आवश्यकताको और-कोई देश महसूस नहीं कर सका है, और इस विषयमें इतनी चिन्ता भी और-किसीने नहीं की है; हमारे देशके सम्पन्न व्यक्तियोंके लिए भी ऐसी सुविधाएँ मिलना दुर्लभ है।

मजदूरोंके लिए इनकी कैसी सुन्दर व्यवस्था है, यह तो मालूम हो ही गया। अब बच्चोंके सम्बन्धमें कैसी व्यवस्था है, इसपर कुछ लिखता हूं। बच्चा, चाहे वह जारज हो या विवाहित दम्पतिकी सन्तान, दोनोंमें कुछ फर्क नहीं समझा जाता। कानून यह है कि बच्चा जब तक अठारह सालका होकर बालिग न हो जाय, तब तक उसके पालन-पोषणका भार पिता-मातापर होगा। घरपर बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाके लिए मा-बाप क्या कर रहे हैं, क्या नहीं—इस विषयमें राज्य उदासीन नहीं रहता। सोलह सालकी उमरके पहले किसी भी बालकको मेहनत-मजूरीके कामपर नहीं लगाया जा सकता। अठारह सालकी उमर तक उनके काम करनेका समय छै घंटे है, इससे ज़्यादा नहीं। बच्चोंके प्रति माता-पिता अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं या नहीं, इसकी जाँच करनेका भार अभिभावक-विभागपर है। इस विभागके कर्मचारी बीच-बीचमें

देख-भालके लिए निकलते हैं—देखते हैं कि बच्चोंका स्वास्थ्य कैसा है, क्या पढ़ते-लिखते हैं। अगर मालूम हुआ कि लड़कोंका पालन-पोषण ठीक नहीं हो रहा है, तो पिता-माताके हाथसे बच्चोंको अलग कर लिया जाता है। मगर फिर भी बच्चोंके भरण-पोषणकी जिम्मेदारी मा-बापपर ही रहती है। इस तरहके लड़के-लड़कियोंको पाल-पोसकर योग्य बनानेका भार पड़ता है सरकारी अभिभावकोंपर।

बात असलमें यह है,—सन्तानें केवल मा-बापकी ही नहीं हैं, मुख्यतः सारे समाजकी हैं। उनकी भलाई-बुराई सारे समाजकी भलाई-बुराई है, इसलिए उनको योग्य बनानेकी जिम्मेदारी समाजकी है; क्योंकि उसका नतीजा समाजको ही भोगना पड़ेगा। विचार कर देखा जाय, तो परिवारकी जिम्मेदारीसे समाजकी जिम्मेदारी ज़्यादा है, कम नहीं। सर्वसाधारणके विषयमें भी इनके ऐसे ही विचार हैं। इनके विचारसे सर्वसाधारणका अस्तित्व मुख्यतः विशिष्ट-साधारणके लाभ या सुविधाके लिए नहीं है। सर्वसाधारण समस्त समाजका अंग है, न कि समाजके किसी विशेष अंगका प्रत्यंग। अतएव उनके लिए सारा स्टेट जिम्मेदार है। व्यक्तिगत रूपसे अपने भोग या प्रतापके लिए कोई समस्त समाजको उल्लंघन कर जाय, यह नहीं हो सकता।

कुछ भी हो, मैं नहीं समझता कि मनुष्यकी व्यक्तिगत और समष्टिगत सीमाका इन लोगोंने ठीक तौरसे पता लगा लिया है। इस विषयमें ये फैसिस्टोंके समान हैं। यही कारण है कि समष्टिके लिए व्यष्टि (व्यक्तित्व) को पीड़ा देनेमें ये लोग किसी तरहकी बाधा नहीं मानना चाहते। वे इस बातको भूल जाते हैं कि व्यष्टिको दुर्बल करके

समष्टिको सबल नहीं बनाया जा सकता ; व्यष्टि यदि बन्धनबद्ध हो जाय, तो समष्टि स्वाधीन नहीं हो सकती। यहाँ जबरदस्त आदमीका एकनायकत्व चल रहा है। इस तरह एकके हाथमें देशकी बागडोर रहना कदाचित् कुछ दिनके लिए अच्छा फल दे भी सकता है, किन्तु वह स्थायी कभी नहीं हो सकता। परम्परा-रूपसे बराबर सुयोग्य नायकका मिलना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता।

इसके सिवा, अबाध शक्तिका लोभ मनुष्यकी बुद्धिमें विकार उत्पन्न कर देता है। हाँ, एक इनमें अच्छी बात है, यद्यपि सोवियट मूल नीतिके विषयमें इन लोगोंने मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वाधीनताको अत्यन्त निर्दयताके साथ कुचलनेमें कोई संकोच नहीं किया, फिर भी साधारण रीतिसे शिक्षा और चर्चाके द्वारा व्यक्तिकी आत्म-शक्तिको ये बढ़ाते ही जा रहे हैं—फैसिस्टोंकी तरह लगातार उसे पीसते ही नहीं रहे। शिक्षाको अपने विशेष मतकी अनुगामी बनाकर कुछ शक्तिके बलपर और कुछ मोहमंत्रके जोरसे एकमुखी कर डाला है, फिर भी सर्वसाधारणकी बुद्धिका काम बंद नहीं किया है। यद्यपि सोवियट-नीतिके प्रचारके सम्बन्धमें इन लोगोंने युक्ति-बलके ऊपर भी बाहुबलको खड़ा कर रखा है, फिर भी युक्तिको बिलकुल छोड़ा नहीं है, और धर्म-मूढ़ता और समाज-प्रथाकी अन्धतासे सर्वसाधारणके हृदय-मनको मुक्त रखनेके लिए प्रबल उद्यम किया है।

मनको एक तरफसे स्वाधीन बनाकर दूसरी ओरसे अत्याचारोंसे उसे वश करना सहज काम नहीं है। भयका प्रभाव कुछ दिन काम कर सकता है, अन्तमें उस भीरुताको धिक्कारकर शिक्षित मन किसी

न किसी दिन अपने विचार-स्वातंत्र्यके अधिकारका दावा करेगा ही। इन लोगोंने मनुष्यके शरीरको पीड़ित किया है, मनको नहीं किया। जो लोग वास्तवमें अत्याचार करना चाहते हैं, वे मनुष्यके मनको ही पहले मारते हैं—मगर इन लोगोंने मनकी जीवनी-शक्ति बढ़ाई ही है, घटाई नहीं। बस, यहीं मुक्तिका मार्ग खुला रह गया।

आज, कुछ ही घंटों बाद न्यूयार्क पहुंचूंगा। उसके बाद फिर नया अध्याय शुरू होगा। इस तरह सात घाटका पानी पीते फिरना अब अच्छा नहीं लगता। अबकी बार इधर न आनेकी इच्छाने हृदयमें अनेक तर्क उठाये थे, परन्तु अन्तमें लोभ ही ने विजय पाई।

६ अक्टोबर, १९३०

१४

लैन्सडाउन

इस बीचमें दो-एक बार मुझे दक्षिण-द्वारसे सटकर जाना पड़ा है; वह द्वार मलय-समीरणका दक्षिण-द्वार नहीं था, बल्कि जिस द्वारसे प्राणवायु अपने निकलनेके लिए रास्ता ढूँढ़ती है, वह द्वार था। डाक्टरने कहा—नाड़ीके साथ हृदयकी गतिका जो क्षण-भरका विरोध हुआ था, वह थोड़ेपर से ही निकल गया, इसे अवैज्ञानिक भाषामें मिराकिल (जादू) कहा जा सकता है। जो कुछ भी हो, यमदूतका इशारा मिल चुका। डाक्टर कहता है—अबसे खूब सावधानीसे रहना चाहिए। अर्थात् उठकर चलने-फिरनेसे हृदयमें बाण आकर लग सकता

है—लेटे रहनेसे लक्ष्य भ्रष्ट हो सकता है। इसलिए भले आदमीकी तरह अधलेटी अवस्थामें दिन काट रहा हूं। डाक्टर कहता है—इस तरह दस वर्ष बिना विघ्न-बाधाके कट सकते हैं, उसके बाद दशम दशाको रोक ही कौन सकता है ? बिस्तरपर तकियेके सहारे लेटा हुआ हूं, मेरी चिट्ठीकी लाइनें भी मेरी देह-रेखाकी नकल कर रही हैं। ठहरो, ज़रा उठकर बैठ जाऊँ।

मालूम होता है, तुमने कुछ दुःसंवाद भेजा है, शरीर उस अवस्थामें पड़नेसे डरता है, कहीं जोरदार लहरोंके धक्केसे टूट न जाय। बात क्या है, उसका आभास मुझे पहले ही मिल चुका था—विस्तृत विवरणका धक्का सहना मेरे लिए कठिन है। इसलिए मैंने तुम्हारी चिट्ठी खुद नहीं पढ़ी, अमियको पढ़ने दी है।

जिस बन्धनने देशको जकड़ रखा है, झटका दे-देकर उसे तोड़ डालना चाहिए। हर झटकेमें आँखोंकी पुतली निकल आयेगी, परन्तु इसके सिवा बन्धन-मुक्तिका अन्य उपाय ही नहीं है। ब्रिटिश राज अपना बन्धन अपने ही हाथसे तोड़ रहा है, उसमें हमारी तरफसे काफी वेदना है, पर उसकी तरफ भी नुकसान कम नहीं है। सबसे बढ़कर नुकसान यह है कि ब्रिटिश राज अपना मान खो चुका है। भीषणके अत्याचारसे हम डरते हैं, पर उस भयमें भी सम्मान है; किन्तु कापुरुषके अत्याचारसे हम घृणा करते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य आज हमारी घृणासे धिक्कृत हो रहा है। यह घृणा हमें बल देगी, इस घृणाके बलपर ही हम विजयी होंगे।

अभी मैं रूससे आया हूं—देशके गौरवका मार्ग कितना दुर्गम है,

इस बातको मैं वहाँ स्पष्ट देख आया हूं। वहाँके तपस्वियोंने जो असह्य कष्ट सहे हैं, उसकी तुलनामें पुलिसकी मारको पुष्पवृष्टि समझना चाहिए। देशके युवकोंसे कहना कि अब भी बहुत-कुछ सहना बाकी है—उसमें कोई कोर-कसर नहीं रक्खी जायगी। इसलिए अभीसे वे यह कहना शुरू न करें कि 'बहुत लग रही है, अब सहा नहीं जाता'—यह कहना एक तरहसे लाठीको अर्घ्य देना है।

देश-विदेशोंमें आज जो भारत गौरव पा रहा है, उसका एकमात्र कारण है कि उसने मारकी परवाह नहीं की,—दुःखोंकी उपेक्षा करनेकी जो हमारी तपस्या है, उसे हम कभी भी न छोड़ें। पशुबल बार-बार लगातार हमारे पशुबलको जगानेकी कोशिश कर रहा है, अगर वह इसमें सफल हो गया, तो हम हार जायँगे। दुःख पा रहे हैं, इसलिए हमें दुःख नहीं करना चाहिए। यही हमारे लिए मौका है कि हम प्रमाणित कर दें कि हम मनुष्य हैं—पशुकी नकल करते ही हमारा यह शुभ-योग नष्ट हो जायगा। अन्त तक हमें कहना होगा कि 'हम डरते नहीं'। बंगालका कभी-कभी धैर्य नष्ट हो जाता है, यह हमारी कमज़ोरी है। जब हम नाखून और दाँतोंसे काम लेने लगते हैं, तब वह हमला दाँत-नाखूनवालोंके लिए सलाम ही साबित होता है। उपेक्षा करो, नक़ल मत करो। अश्रुवर्षण नैव नैव च।

मुझे सबसे बड़ा दुःख इस बातका है कि मेरे पास यौवनकी पूँजी नहीं रही। मैं गतिहीन होकर पान्थशालामें पड़ा हुआ हूं—जो लोग रास्तेसे चल रहे हैं, उनके साथ चलनेका समय हाथसे निकल गया।

२६ अक्टोबर, १६३०

उपसंहार

सोवियट-शासनके प्रथम परिचयने मेरे मनको खास तौरसे आकर्षित किया है, यह मैं पहले ही कह चुका हूं। इसके कई विशेष कारण हैं, और वे आलोचनाके योग्य हैं।

रूसकी जिस तसवीरने मेरे हृदयमें मूर्ति धारण की है, उसके पीछे भारतकी दुर्गतिका काला परदा लटक रहा है। हमारी इस दुर्गतिके मूलमें जो इतिहास है, उससे हम एक तत्त्वपर पहुंच सकते हैं, और उस तत्त्वपर गहरा विचार करनेसे आलोच्य विषयमें मेरे मनका क्या भाव है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

भारतवर्षमें मुसलमान-शासनके विस्तारके भीतर जो आकांक्षा थी, वह थी राज-महिमाकी प्राप्ति। उस ज़मानेमें हमेशा राज्यको लेकर ही युद्ध हुआ करते थे, और उसकी जड़में थी राज्य करनेकी इच्छा। किसी ज़मानेमें ग्रीसका सिकन्दर शाह धूमकेतुकी अग्निशिखा-सी चमकती हुई पूँछकी तरह अपनी सेनाको लेकर जो विदेशके आकाशमें विचरण करता हुआ अपना मार्ग साफ करता रहा था, वह सिर्फ अपना प्रताप फैलानेके लिए ही। रोम-

सम्राटोंकी भी यही प्रवृत्ति थी। फिनिश लोग समुद्रोंके किनारे-किनारे वाणिज्य करते रहे, पर राज्यकी छीना-झपटीसे वे दूर ही रहे।

एक दिन यूरोपसे वणिकोंके जहाज़ जब पूर्व महादेशके घाटोंपर आ-आकर जमा होने लगे, तबसे संसारके मानव-समाजके इतिहासमें एक नया अध्याय क्रमशः प्रकट होने लगा; क्षात्र-युग चला गया, वैश्ययुगने पदार्पण किया। इस युगमें वणिकोंका दल विदेशोंमें पहुंचकर वहांके बाज़ारोंके पिछवाड़ेमें अपना राज्य स्थापन करने लगा। मुख्यतः वे मुनाफेके अंकोंको बढ़ाना चाहते थे—वीर बनकर सम्मान प्राप्त करना उनका लक्ष्य न था। इस कामके लिए उन्होंने अनेक तरहके कुटिल हथकंडोंसे काम लिया और उसके लिए वे ज़रा भी लज्जित नहीं थे; कारण वे चाहते थे सिद्धि—कीर्तिसे उन्हें कोई मतलब नहीं था।

उस समय भारतवर्ष अपने विपुल ऐश्वर्यके लिए संसारमें प्रसिद्ध था—उस ज़मानेके विदेशी ऐतिहासिकगण बार-बार इस बातकी घोषणा कर गये हैं। यहां तक कि स्वयं क्लाइवने कहा है—"भारतवर्षकी धनशालिताके विषयमें जब विचार करता हूं, तो मैं अपने अपहरण-नैपुण्यके संयमसे आप ही विस्मित हो जाता हूं।" इतना-विपुल-धन-ऐश्वर्य, यह कभी भी सहजमें नहीं हो सकता—भारतवर्षने इसे स्वयं ही उत्पन्न किया था। तब विदेशसे आकर जो यहांके राज्यासनपर बैठे थे, उन्होंने इस धन-ऐश्वर्यका भोग किया, पर उसे नष्ट नहीं किया। अर्थात् वे भोगी थे, किन्तु वणिक न थे।



रवीन्द्रनाथ-चित्र-प्रदर्शनीमें रवीन्द्रनाथ

उसके बाद वाणिज्यके मार्गको सुगम करनेके लिए विदेशी वणिकोंने अपने कारोबारकी गद्दीपर राज्यका तख्त बिठाया। समय उनके अनुकूल था। तब मुग़ल राज्यमें घुन लगना शुरू हो गया था; मरहठे और सिख मुग़ल-साम्राज्यकी मज़बूत जंजीरकी कड़ियोंको काटनेमें लगे हुए थे, इतनेमें अंगरेजोंका हाथ लगा और उनका हाथ लगते ही वह छिन्न-भिन्न होकर ध्वंसके रास्तेपर चला गया।

और भी प्राचीनकालमें जब राज-गौरवके लोलुप इस देशमें राज्य करते थे, तब यहाँ अत्याचार, अन्याय और अव्यवस्था थी ही नहीं, यह बात नहीं कही जा सकती; मगर फिर भी वे थे इस देशके ही अंग। उनके पैने नाखूनोंसे देशके शरीरपर जो दाग या घाव-से पड़ गये थे, वे सिर्फ चमड़ेपर ही थे, रक्तपात भी काफी हुआ था, मगर उससे अस्थि-बन्धन ढीले नहीं हुए। धन-उत्पादनके विचित्र कार्य उस समय ज्योंके त्यों चल रहे थे, यहाँ तक कि नवाब-बादशाहोंकी तरफसे भी उनमें सहारा मिला था। अगर ऐसा न होता, तो यहाँ विदेशी वणिकोंकी भीड़ इतनी न जमने पाती,—मरुभूमिमें टिड्डियोंका क्या काम?

उसके बाद भारतमें वाणिज्य और साम्राज्यके अशुभ संगमकालमें वणिक राजा देशके धन-कल्पतरुकी जड़को किस तरह खोदने लगे, इसका इतिहास सैकड़ों बार कहा हुआ और अत्यन्त कर्णकटु है। परन्तु पुराना होनेसे उसे विस्मृतिके ढकनेसे ढका नहीं जा सकता। इस देशकी वर्तमान असह्य

दरिद्रताकी भूमिका तो वहींसे है। भारतवर्ष किसी दिन धन-महिमामें सर्वश्रेष्ठ था, परन्तु उसकी वह महिमा न-जाने किस वाहनपर बैठकर द्वीपान्तरको चली गई ;—अगर हम इस बातको भूल जायँ, तो संसारके आधुनिक इतिहासकी एक तत्त्वपूर्ण बात ही छूट जायगी। आधुनिक राजनीतिकी प्रेरणाशक्ति बल-वीर्यका अभिमान नहीं है, वह है धनका लोभ ; और इस तत्त्वको हमें याद रखना चाहिए। राज-गौरवके साथ प्रजाका एक मानविक सम्बन्ध रहता है, किन्तु धन-लोभके साथ वह रह ही नहीं सकता। धन निर्मम है, निर्दय है, नैर्व्यक्तिक है। जो मुरगी सोनेके अंडे देती है, लोभ सिर्फ उसके अंडोंको ही टोकरीमें उठा ले जाता हो, सो बात नहीं ; वह मुरगी तकको ज़िबह कर डालता है।

वणिक-राजके लोभने भारतकी धन-उत्पादनकारी विचित्र शक्तिको ही पंगु कर दिया है। बचो है सिर्फ कृषि, नहीं तो कच्चे मालका पाना उनके लिए बंद हो जाता और विदेशी मालके बाज़ारमें हमारी मूल्य देनेकी शक्ति बिलकुल ही नष्ट हो जाती। भारतकी रोजमर्राकी जीविका इस अत्यन्त क्षीण वृन्तपर अवलम्बित है।

यह बात मान लेते हैं कि उस ज़मानेमें जिस निपुणता और जिन तरीकोंसे हाथका काम चलता था और कारीगर लोग जिससे अपनी गुज़र करते थे, यंत्र (मशीनरी) की प्रतियोगितामें वे सब अपने आप ही निष्क्रिय हो गये हैं। इसलिए प्रजाकी

रक्षाके लिए यह बहुत ही आवश्यक था कि हर तरहसे उन्हें यंत्र-कुशल बना दिया जाय। जान बचानेके लिए सभी देशोंमें आज यह उद्योग प्रबल है। जापानने थोड़े समयके अंदर धनके यंत्र-वाहनको अपने काबूमें कर लिया है। अगर वह ऐसा न करता, तो 'यंत्री यूरोप' के षड्यंत्रसे वह धन और प्राण दोनोंसे ही हाथ धो बैठता। हमारे भाग्यमें वह भी नहीं बदा था, क्योंकि लोभ ईर्ष्यालु होता है। उस जबर्दस्त लोभके मारे हमारे धन-प्राण सूखे जा रहे हैं, उसके बदले राजा हमें सान्त्वना देनेके लिए कहते हैं—"अब जो धन-प्राण थोड़ा-बहुत बाकी बचा है, उसकी रक्षाके लिए कानून और चौकीदारोंकी व्यवस्थाका भार हमपर रहा।" इधर हम अपने अन्न-वस्त्र और विद्या-बुद्धिको गिरवी रखकर मौतके किनारे खड़े हुए चौकीदारोंकी वर्दीका खर्च जुटा रहे हैं। यह जो घातक उपेक्षा या उदासीनता है, इसकी जड़में है लोभ। सब तरहकी ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका जहाँ झरना था पीठस्थान है, वहाँसे बहुत नीचे खड़े हुए अब तक हम मुँह बाये ऊपर ही की ओर देखते आ रहे हैं, और उस ऊर्ध्वलोकसे बराबर यही आश्वासवाणी सुनते आ रहे हैं—"तुम्हारी शक्ति यदि क्षय हो रही है, तो तुम्हें डर किस बातका? हमारे पास शक्ति है, हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

जिसके साथ लोभका सम्बन्ध है, उससे मनुष्य मतलब साधता है, कभी भी उसका सम्मान नहीं करता। और जिसका सम्मान नहीं करता, उसकी माँगको वह जहाँ तक बनता है

छोटा बनाये रखता है। अन्तमें वह असम्मानित मनुष्य इतना ज्यादा सस्ता हो जाता है कि उसके बड़ेसे बड़े अभावमें भी थोड़ासा खर्च करना भी उनको खटकने लगता है, जो बराबर उससे अपना मतलब गाँठते रहे हैं। हमारे प्राण और मनुष्यत्वकी रक्षाके लिए कितना कम दिया जाता है, इस बातको सभी जानते हैं। खानेके लिए अन्न नहीं, जाननेके लिए विद्या नहीं, इलाजके लिए वैद्य नहीं, पानीके लिए पानी निकालना पड़ता है कीच छानकर, मगर फिर भी हमारे चारों तरफ चौकीदारोंका जमघट है, और है मोटी तनखा पानेवाले अफसरोंकी भीड़; जिनका वेतन गल्फ-स्टीमकी तरह सब चला जाता है ब्रिटिश द्वीपके शीत-निवारणके लिए, और अन्तमें उनकी पेन्शन चुकानी पड़ती है हमें अपनी अन्त्येष्टि-क्रियाके खर्चमें से। इसका एकमात्र कारण—लोभ अन्धा है, लोभ निष्ठुर है—भारत भारतेश्वरोंके लोभकी सामग्री है।

फिर भी, कठिन वेदनाकी अवस्थामें भी, इस बातको मैं कभी भी अस्वीकार न करूँगा कि अंग्रेजोंके स्वभावमें उदारता है, विदेशी शासन-कार्यमें अन्य यूरोपियनोंका व्यवहार अंगरेजोंसे भी कृपण और निष्ठुर है। अंगरेज़ जाति और उसकी शासन-नीतिके सम्बन्धमें वचन और आचरणसे हम जैसी विरुद्धता प्रकट करते हैं, और किसी जातिके शासनकर्ताओंके सम्बन्धमें वैसा करना सम्भव न होता; और यदि होता भी तो उसकी दण्डनीति और भी बढ़कर असह्य होती; खास यूरोपमें, यहाँ

तक कि अमेरिकामें भी, इसके प्रमाणोंका अभाव नहीं है। प्रकाश्य रूपसे विद्रोहकी घोषणा करते समय भी, राजपुरुषोंके द्वारा पीड़ित किये जानेपर हम जब विस्मयके साथ शिकायत करते हैं, तब प्रमाणित हो जाता है कि अंगरेज़ जातिके प्रति हमारी गूढ़ श्रद्धा मार खाते-खाते भी मरना नहीं चाहती। अपने देशी राजा या ज़मींदारोंसे हमें और भी कम आशा है।

इंग्लैण्डमें रहते समय एक बातपर मैंने लक्ष्य किया है कि भारतमें दिये गये कठोर दंडोंके विषयमें ग्लानिजनक कोई समाचार वहांके अखबारोंमें नहीं पहुंचने पाते। इसका एकमात्र कारण यह नहीं है कि वे डरते हैं कि कहीं यूरोप या अमेरिकामें उनकी निन्दा न होने लगे। वास्तवमें कड़े अंगरेज शासनकर्ता अपनी ही जातिकी शुभबुद्धिसे डरते हैं; अंगरेजोंके लिए छाती ठोंककर यह कहना कि—'अच्छा किया है, ठीक किया है, ज़रूरत थी ज़बरदस्ती करनेकी'—सहज नहीं है; कारण, अंगरेजोंमें उदार-हृदय मौजूद हैं। भारतके संबंधमें सच्ची बातें बहुत कम अंगरेज जानते हैं। वे अपनेको धिक्कारें तो किस बातपर, उसके कारण तो उन तक पहुंचते ही नहीं। यह सच है कि जिसने भारतका नमक बहुत दिनों तक खाया है, उसका अंगरेजी यकृत और हृदय कलुषित हो गया है, फिर भी दुर्भाग्यसे वे ही हमारे 'आँथरिटी' हैं।

भारतमें वर्तमान आन्दोलनके समय जो दमनचक्र चलाया गया है, उसके विषयमें हमारे भाग्य-विधाताओंका कहना है कि वह बहुत ही मामूली था। इस बातको माननेके लिए हम बिलकुल तैयार

नहीं हैं, किन्तु अतीत और वर्तमान शासन-नीतिमें तुलना करनेसे उनकी बातको अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। हमने मार खाई है, अन्यायपूर्ण मार भी काफी खाई है; और सबसे बढ़कर कलंककी बात है गुप्त मार, उसकी भी कमी कभी नहीं रही। यह भी कहना पड़ेगा कि अधिकांश मौकोंपर माहात्म्य उन्हींका है, जिन्होंने मार खाई है; जिन्होंने मारा है, उन्होंने अपना सम्मान ही खोया है। परन्तु साधारण राज्य-शासननीतिके आदर्शके अनुसार हमारी मारकी मात्रा अवश्य ही बहुत कम कही जा सकती है। खासकर जब कि हमसे उनका रक्तका कोई सम्बन्ध नहीं था, और दूसरे, समस्त भारतवर्षको 'जालियानवाला बाग' बना डालना बाहुबलकी दृष्टिसे उनके लिए कोई असम्भव बात नहीं थी। अमेरिकाकी समग्र नीग्रो-जाति युक्तराज्यसे अपना सम्बन्ध त्यागनेके लिए स्पर्धापूर्वक आन्दोलन करनेमें जुट जाती, तो कैसे वीभत्स रूपसे खूनकी नदियाँ बहतीं, इस वर्तमान शान्तिकी अवस्थामें भी उसका अनुमान करनेमें ज्यादा कल्पना-शक्तिकी जरूरत नहीं पड़ेगी। इसके सिवा इटली आदिमें जो हुआ है, उस विषयमें आलोचना करना ही व्यर्थ है।

परन्तु इससे सान्त्वना नहीं मिलती। जो मार लाठीके सिरेपर है, वह मार दो दिन बाद थक जाती है, यहाँ तक कि क्रमशः उसका स्वयं लज्जित होना कोई असम्भव बात नहीं। परन्तु जो मार भीतर-ही-भीतर अपना काम करती रहती है, वह तो ज्योंकी त्यों बनी ही रहती है, उसका लोप तो होता ही नहीं। समस्त जातिको उसने भीतर-ही-भीतर कंगाल कर

दिया है। शताब्दियाँ बीत गईं उसकी गति रुकी नहीं। क्रोधकी मार रुकती है, पर लोभकी मारका अन्त नहीं।

'टाइम्स्' के साहित्यिक क्रोड़पत्रमें देखा था, Mackee नामके एक लेखकने लिखा है—"भारतमें दरिद्रताका Root Cause यानी मूल कारण है वहाँके लोगोंका बिना विचारे विवाह करना और उससे अधिक प्रजाका उत्पन्न होना।" इसका भीतरी भाव यह है कि देशके बाहरसे जो शोषण-कार्य चल रहा है, वह इतना दुःसह न होता, यदि थोड़े अनाजसे थोड़ेसे आदमी हँड़िया पोंछ-पोंछकर अपनी गुजर कर लेते। सुनते हैं—इंग्लैण्डमें सन् १८७१ से लेकर १६२१ तक फी-सदी ६६. आदमियोंकी वृद्धि हुई है। भारतमें पचास वर्षकी प्रजावृद्धिका औसत ३३ फी-सदी है। फिर एक ही मुहूर्तकी यात्रामें पृथक् फल क्यों हुआ? इससे मालूम होता है कि root cause प्रजावृद्धि नहीं, बल्कि मूल करण जीविकाका अभाव है। और उसका root (मूल) कहाँ है?

जो देशपर शासन करते हैं, और जो प्रजा उनके द्वारा शासित होती है, दोनोंका भाग्य यदि एक-सा हो, तो कमसे कम खाने-पहरनेके विषयमें शिकायत नहीं हो सकती। अर्थात् सुभिक्ष और दुर्भिक्षमें दोनों ही लगभग समान ही भाग लेते हैं। परन्तु जहाँ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षके बीचमें महालोभ और महासमुद्रका व्यवधान है, वहाँ अमावस्याकी ओर विद्या, स्वास्थ्य, सम्मान और सम्पदकी कंजूसी दूर नहीं हो सकती,

और उसपर भी मजा यह कि निशीथ रात्रिके चौकीदारोंके हाथमें सर्चलाइटका आयोजन बढ़ता ही जाता है। इस बातपर विचार करनेके लिए स्टैटिस्टिक्सकी बहुत ज्यादा नुक्ताचीनीकी जरूरत नहीं पड़ती कि आज एक-सौ-साठ वर्षसे भारतके भाग्यमें सब विषयोंमें दरिद्रता और ब्रिटेनके भाग्यमें सब विषयोंमें ऐश्वर्य-ही-ऐश्वर्य भोग करना बदा है। इसका यदि एक पूरा चित्र अंकित करना चाहूं, तो बंगालमें जो किसान सन उत्पन्न करते हैं और सुदूर डंडी (स्काटलैंड) में जो उसका मुनाफा उठाते हैं—दोनों की जीवन-यात्राका दृश्य पास-पास रखकर देखना पड़ेगा। दोनों में सम्बन्ध है लोभका, और विच्छेद है भोगका। यह भेद डेढ़ सौ वर्षोंसे बढ़ता ही रहा है, घटा नहीं।

जबसे यान्त्रिक उपायोंसे अर्थोपार्जनको बहु-गुना बढ़ानेका रास्ता खुल गया, तबसे मध्ययुगका वीरधर्म (शिवलरी) वणिक-धर्ममें परिणत हो गया। इस भीषण वैश्ययुगकी प्रथम सूचना मिली समुद्रयानके द्वारा विश्वपृथिवीके आविष्कारके साथ-साथ। वैश्ययुगकी आदिम भूमिका है दस्युवृत्तिमें। दास-हरण और धन-हरणकी वीभत्सतासे धरित्री उस दिन रो उठी थी। यह निष्ठुर व्यवसाय विशेषत: परदेशमें अधिक चलता था। थोड़े ही दिन हुए, स्पेनवालोंने मेक्सिकोमें जाकर सिर्फ सोनेकी खानें ही नहीं हड़पीं, बल्कि वहांकी सारी सभ्यताको खूनसे मिटा डाला। उस रक्त-मेघकी आंधी पश्चिमसे भिन्न-भिन्न झोकों में

भारतमें आने लगी। उसका इतिहास कहना अनावश्यक है। धन-सम्पद्‌का स्रोत पूर्व दिशासे पश्चिमकी ओर मुड़ा।

उसके बादसे पृथिवीपर कुबेरका सिंहासन स्थायी बन गया। विज्ञानने घोषणा कर दी कि यंत्रका नियम ही विश्वका नियम है, बाह्य सिद्धि-लाभके अतिरिक्त कोई नित्य सत्य नहीं है। प्रतियोगिताकी उग्रता सर्वव्यापी होने लगी, दस्युवृत्तिको भद्रवेशमें सम्मान मिलने लगा। लोभके प्रकट और गुप्त रास्तोंसे कारखानोंमें, खानोंमें और बड़ी-बड़ी खेतियोंमें छद्मनामधारी दासवृत्ति, मिथ्याचार और निर्दयता कैसी हिंसक बन गई है, इस विषयमें यूरोपीय साहित्यमें रोमांचकारी वर्णन काफी देखनेमें आते हैं। पाश्चात्य देशोंमें जो लोग रुपया कमाते हैं और जो लोग उन्हें उस काममें मदद देते हैं,—अर्थात् धनी और मजदूरोंमें बहुत दिनोंसे विरोध चल रहा है। मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म है समाज। लोभ ही उस धर्मका सबसे बड़ा घातक है। इस युगमें एकमात्र लोभ ही मनुष्यके समाजको झकझोरकर उसके सम्बन्ध-बन्धनोंको शिथिल और विच्छिन्न करता जा रहा है।

एक देशमें एक ही जातिके भीतर यह निर्मम धनार्जनका लोभ जो भेद खड़ा कर देता है, उसमें दुःख चाहे जितना भी हो, परन्तु फिर भी वहाँ सुयोग (चान्स) का दरवाज़ा सबके लिए समानरूपसे खुला रहता है; शक्तिमें पार्थक्य हो सकता है, पर अधिकारमें रोक नहीं है। धनकी चक्कीमें आज जो वहाँ पीसा

जा रहा है, कल हो वह पीसनेवाला बन सकता है। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ जो धनियोंके पास धन इकट्ठा होता है, अनेक प्रकारोंसे देशके सभी लोगोंमें उसका कुछ न कुछ अंश अपने आप ही बट जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिपर जातीय सम्पत्तिका भार कुछ-न-कुछ रहता ही है। सर्वसाधारणके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा और भी अनेक तरहके हितकर कार्य—इन सब कामोंके लिए काफी रुपयोंकी जरूरत होती है; और देशकी इन समस्त विचित्र माँगोंको चाहे इच्छासे हो या अनिच्छासे—लक्ष्यतः हो चाहे अलक्ष्यतः—धनी लोग पूरा करते ही रहते हैं।

परन्तु भारतके जिस धनसे विदेशी वणिक या राज-कर्मचारी धनी होते हैं, उसका कमसे कम उच्छिष्ट—जो नहींके बराबर होता है—भारतके हिस्सेमें पड़ता है। सन पैदा करनेवाले किसानोंकी शिक्षा और स्वास्थ्यका अभाव प्यासे चातककी तरह मुँह बाये पड़ा रहता है, विदेशको जानेवाले मुनाफेमें से उसे कुछ भी नहीं मिलता। जो कुछ गया, वह बिलकुल गया—उसमेंसे कुछ लौट नहीं सकता। सनकी खेती और उसमें से मुनाफा उठानेके लिए ही गाँवके तालाब दूषित किये जाते हैं, किन्तु फिर भी असह्य जलकष्टको दूर करनेमें विदेशी महाजनोंकी भरी जेबमें से एक पाई भी नहीं निकलती! यदि पानीकी व्यवस्था की भी गई, तो उसका सारा खर्चा टैक्सके रूपमें उन्हीं वणिकों द्वारा चूसे जानेवाले गरीब भूखे किसानोंको

ही देना पड़ता है ! सर्वसाधारणको शिक्षा देनेके लिए राजकोषमें रुपये नहीं हैं। क्यों नहीं हैं ? इसका मुख्य कारण है, काफी रुपया भारतको सम्पूर्णतः त्यागकर बाहर चला जाता है,—यह है लाभका रुपया, जिससे अपना रुपया भी पूरी तरहसे दूसरेका हो जाता है। अर्थात् पानी सूखता है इस पारके तालाबका और बादल होकर उसकी वर्षा होती है उस पारके देशोंमें। उस देशके अस्पतालों और विद्यालयोंके लिए यह अभागा अशिक्षित अस्वस्थ मुमूर्षु भारतवर्ष हमेशा अप्रत्यक्ष रूपसे रसद जुटाता आ रहा है।

देशवासियोंकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाका चरम दुःख-दृश्य बहुत दिनोंसे अपनी आँखोंसे देखता आ रहा हूं। दरीद्रतासे मनुष्य सिर्फ मरता ही नहीं; बल्कि अपनेको अवज्ञाके योग्य बना लेता है, इसीलिए जान साइमनने कहा है :—

"In our view the most formidable of the evils from which India is suffering have their roots in social and economic customs of long-standing which can only be remedied by the action of the Indian people themselves."

यह अवज्ञाकी बात है। भारतकी आवश्यकताओंपर वे जिस आदर्शसे विचार कर रहे हैं, वह उनका अपना आदर्श नहीं है। अधिकसे अधिक धन-सम्पत्ति उपार्जन करनेके लिए जैसी शिक्षा, जैसी सुविधाएँ, जैसी स्वाधीनता उन्हें प्राप्त हैं—जिन सुविधाओंसे उनकी जीवन-यात्राका आदर्श ज्ञान-कर्म-भोग

आदि अनेक दिशाओंसे काफी पुष्ट हो चुका है—जीर्णवस्त्र शीर्ण-शरीर रोगक्लान्त शिक्षा-वंचित भारतके लिए वैसी शिक्षा, वैसी स्वाधीनता और वैसी सुविधाओंके आदर्शको वे कल्पनामें भी नहीं लाते, बल्कि वे तो यह चाहते हैं कि हम किसी तरह अपनी संख्या-वृद्धिको रोककर दिन काटें और खर्च घटायें और अपनी आजीविकाका गला घोंटकर उनकी जीविकाका जो बढ़ा हुआ आदर्श है, उसका भारी बोझ हमेशा ढोते रहें, जिससे वह ज्योंका त्यों बना रहे। इससे ज्यादा कुछ विचारनेकी ज़रूरत नहीं, अतएव रेमेडी (इलाज) की पूरी जिम्मेदारी हमारे ही हाथमें है, जिन लोगोंने रेमेडीको दुःसाध्य कर डाला है, उनके लिए विशेष कुछ करना नहीं है।

मनुष्य और विधाताके विरुद्ध इन सब अभियोगोंको स्थगित रखकर ही मैं अन्तरंग दृष्टिसे अपने निर्जीव गाँवोंमें प्राण संचार करनेके लिए अपनी अत्यन्त क्षुद्र शक्तिका कुछ दिनोंसे प्रयोग कर रहा हूं। इस कार्यमें सरकारकी अनुकूलताकी मैंने उपेक्षा नहीं की, बल्कि उसकी मैंने इच्छा ही की है। परन्तु कुछ फल नहीं मिला, कारण वहाँ दर्द नहीं है—सहानुभूति नहीं है। और दर्द होना सम्भव भी नहीं,—कारण, हमारी अक्षमताने—हमारी हर तरहकी दुर्दशाने हमारी माँगको बहुत कमज़ोर बना दिया है। देशके किसी यथार्थ करने योग्य कार्यमें सरकारके साथ हमारे कार्यकर्ताओंका उचित सहयोग-सम्बन्ध होना मुझे तो असम्भव-सा मालूम होता है। इसलिए, यही स्थिर रहा कि चौकीदारोंकी वर्दीका खर्च पूरा करके हमारे

पास जितनी भी कौड़ी बचें, उनसे जो काम हो सकता है उतना ही काम करें।

मैं ऐसे समयमें रूस गया था, जब कि भारतके राजकीय लोभ और उससे उत्पन्न असह्य उदासीनताके रूपने मेरे हृदयमें निराशाका अन्धकार फैला रखा था। यूरोपके अन्याय देशोंमें ऐश्वर्यका काफी आडम्बर देखा है; वह इतना अधिक ऊँचा है कि देशकी ईर्ष्या भी उसकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकती। रूसमें भोगका वैसा समारोह बिलकुल नहीं, शायद इसीलिए उसका भीतरी रूप देखना सहज था।

भारतवर्ष जिससे बिलकुल ही वंचित है, यहाँ उसीके आयोजनको सर्वव्यापी बनानेका प्रबल प्रयास हो रहा है, और उसे मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। कहना न होगा कि मैंने अपनी उस बहुत दिनोंकी भूखी दृष्टिसे सब देखा है। पश्चिम महादेशके अन्य किसी भी स्वाधिकार-सौभाग्यशाली देशवासीकी दृष्टिमें यह दृश्य कैसा लगेगा, इस बातका ठीक-ठीक विचार करना मेरे लिए सम्भव नहीं। अतीत कालमें भारतका कितना धन ब्रिटिश द्वीपको रवाना हो गया है और वर्तमानमें नाना प्रणालियोंसे प्रतिवर्ष कितना जा रहा है, इस विषयमें संख्या-सम्बन्धी तर्क मैं नहीं करना चाहता। परन्तु मैं तो स्पष्ट देख रहा हूं—और बहुतसे अंगरेज भी इस बातको स्वीकार करते हैं—कि हमारे देशका शरीर रक्तहीन हो गया है और उसका हृदय बिलकुल दब गया है, जीवनमें न तो आनंद है, न सुख; हम भीतर बाहर

सब तरहसे मर रहे हैं;—और उसका मूल कारण (root cause) यह है कि भारतवासी स्वयं ही मर्मगत अपराधके साथ संश्लिष्ट हैं, अर्थात् कोई भी गवर्मेन्ट इसका प्रतिकार करनेमें अत्यन्त असमर्थ है—इस बातको हम कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे।

इस बातको मैं हमेशासे ही महसूस करता आया हूं कि भारतके साथ जिन विदेशी शासनकर्ताओंका केवल स्वार्थका ही सम्बन्ध प्रबल है और दर्द या सहानुभूतिका सम्बन्ध है ही नहीं, वह गवर्मेन्ट अपनी गरजसे ही प्रबल शक्ति द्वारा विधि और व्यवस्थाकी रक्षा करनेमें उत्साहित है, परन्तु जिन विषयोंमें केवल हमारी ही गरज है, उन विषयोंमें हमें देशकी तन-मन-धन सब तरहसे रक्षा करनी होगी,—क्योंकि वहां यथोचित शक्ति प्रयोग करनेमें यह गवर्मेन्ट उदासीन रहेगी। अर्थात् इन विषयोंमें विदेशी शासकगण अपने देशके लिए जितने प्रयत्नशील हैं, वहांसे जितनी उनकी सहानुभूति और समवेदना है, हमारे देशके लिए उसका सौवां अंश भी नहीं है। मगर फिर भी हमारे धन और प्राण उन्हींके हाथमें हैं; और, जिन उपायों और उपादानोंसे हम विनाशसे अपनी रक्षा कर सकते हैं, वे हमारे हाथमें नहीं हैं।

यहां तक कि, यदि यह बात सच हो कि सामाजिक नियमोंके विषयमें अपनी मूढ़तावश हम मरने बैठे हैं, तो वह मूढ़ता जिस शिक्षा और जिस उत्साहके द्वारा दूर हो सकती

है, वह शिक्षा भी उसी विदेशी गवर्मेन्टके ही राजकोष और राज-इच्छापर ही निर्भर है। देश-व्यापी अशिक्षाजनित विपत्ति दूर करनेके उपाय या तरीके केवल कमीशनकी सलाह-मात्रसे नहीं प्राप्त किये जा सकते—इस विषयमें सरकारको उतना ही तत्पर होना चाहिए, जितना कि ब्रिटेन-द्वीपकी समस्या होनेपर ब्रिटिश गवर्मेन्ट होती। साइमन-कमीशनसे हमारा यह प्रश्न है कि यदि यह बात सच है कि भारतकी अज्ञता-अशिक्षाके अंदर ही इतना बड़ा मृत्युशूल लगा रहकर अब तक रक्तपात कर रहा है, तो आज एक-सौ-साठ वर्षसे ब्रिटिश शासन रहते हुए भी वह कुछ अंशोंमें भी दूर क्यों नहीं हुआ? कमीशनने क्या कभी सांख्य-तथ्यके द्वारा इस बातका हिसाब लगाया है कि पुलिसकी डंडेबाजीके लिए ब्रिटिश-सरकार जितना खर्च करती है, उसकी तुलनामें देशको शिक्षित करनेमें इस लम्बे समयमें कितना खर्च किया गया है? वास्तवमें बात यह है कि दूर देशके रहनेवाले धनी शासकोंके लिए पुलिसको डंडा सौंपे बिना काम नहीं चल सकता, रही भारतवासियोंकी बात, सो जिनके सिरकी खोपड़ी उस लाठीके वशीभूत है, उनकी शिक्षाके लिए व्ययका विधान शताब्दियों मुलतवी रखनेसे भी काम चल सकता है।

रूसमें पैर धरते ही सबसे पहले मेरी दृष्टि पड़ी किसान और मजदूरोंपर, जो आजसे सिर्फ आठ वर्ष पहले भारतीय सर्वसाधारणकी तरह ही निःसहाय, निरन्न, निरक्षर और अत्याचारोंसे

पीड़ित थे, और अनेक विषयोंमें जिनका दुःखभार हमसे भी ज़्यादा था, उनमें ही आज शिक्षाका प्रचार इन थोड़े ही वर्षोंमें इतना अधिक हो गया है कि डेढ़ सौ वर्षमें भी हमारे देशके उच्च श्रेणीके लोगोंमें उतना नहीं हुआ। हम अपने दरिद्राणां मनोरथः--स्वदेशकी शिक्षा--के सम्बन्धमें जिस दुराशाका चित्र मरीचिकाके पटपर भी नहीं खींच सकते, यहाँ उसका प्रत्यक्ष रूप दिगन्तसे लेकर दिगन्त तक विस्तृत देखा।

मैं अपनेसे बार-बार यह प्रश्न करता हूं कि इतना बड़ा आश्चर्यजनक कार्य हुआ तो हुआ कैसे? हृदयमें इसका उत्तर मुझे यों मिला है कि वहाँ लोभकी बाधा कहीं भी नहीं है, इसीलिए हुआ। इस बातको विचारनेमें कहीं भी खटका नहीं होता कि शिक्षाके द्वारा सभी मनुष्य यथोचित शक्तिवान् हो जायँगे। दूर एशियाके तुर्कमेनिस्तान-वासी प्रजाओंको भी पूरी तौरसे शिक्षा देनेमें इनको ज़रा भी खटका नहीं, बल्कि प्रबल आग्रह है। वे सिर्फ रिपोर्टमें इस बातका उल्लेख करके उदासीन होकर नहीं बैठे कि तुर्कमेनिस्तानवासियोंके दुःख-कष्टोंके कारण उन्हींकी सामाजिक रूढ़ियोंमें मौजूद हैं।

कोचिन-चायनामें शिक्षा-विस्तारके सम्बन्धमें सुना है कि किसी फ्रांसीसी पांडित्यव्यवसायीने कहा है कि भारतमें अंगरेज़ोंने देशी लोगोंको (भारतीयोंको) शिक्षा देकर जो भूल की है, फ्रान्स वैसी भूल वहाँ न कर बैठे। यह बात माननी ही पड़ेगी कि अंगरेज़ोंके चरित्रमें ऐसा एक महत्व है, जिसके लिए विदेशी



V O K. S. के प्रेसिडेन्ट प्रो० पेट्रूस और रवीन्द्रनाथ

शासन-नोतिमें वे कुछ-कुछ गलतियाँ कर ही बैठते हैं, शासनकी गफ बुनावटमें कहीं-कहीं सूत टूट ही जाता है, नहीं तो प्रतिवादके लिये हमारी ज़बान खुलनेमें शायद और भी एकआध शताब्दीकी देर हो जाती।

इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षाके अभावसे हो अशक्ति या असामर्थ्य अटल बनी रहती है, अतएव अशिक्षा पुलिसके डंडोंसे कम बलवान नहीं है। मालूम होता है, लार्ड कर्जनने इस बातको कुछ-कुछ महसूस किया था। शिक्षा देनेके सम्बन्धमें उक्त फ्रांसोसी पांडित्यव्यवसायी अपने देशकी आवश्यकताओं या स्वार्थका जिस आदर्शसे विचार करते हैं, शासित देशकी आवश्यकताओंपर उस आदर्शसे विचार नहीं करते। इसका एकमात्र कारण है लोभ। जो लोभके बाहन हैं, उनके मनुष्यत्वकी वास्तविकता लोभीके लिए अस्पष्ट है, उनकी माँगको हम स्वभावतः ही कुछ नहीं समझते। जिनके साथ भारतके शासनका सम्बन्ध है, उनके सामने भारत आज डेढ़ सौ वर्षसे छोटा है—नाचीज़ है। इसीलिए उसकी मर्मगत आवश्यकताओंपर ऊपरवालोंका उपेक्षाभाव दूर नहीं हुआ। हम क्या खाते हैं, किस पानीसे हमारी प्यास मिट सकती है, कैसी गहरी अशिक्षासे हमारा चित्त अन्धकारपूर्ण है—इन बातोंपर आज तक अच्छी तरह उनकी दृष्टि नहीं गई। क्योंकि उनके लिए यही मुख्य बात है कि हम ही उनकी आवश्यकीय वस्तु हैं;—और हमारे लिए भी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएँ हो सकती हैं, यह बात उनके लिए

फालतू हैं। इसके सिवा हम इतने नाचीज़, इतने तुच्छ बने हुए हैं कि हमारी आवश्यकताओंका सम्मान करना उनके लिए असम्भव है।

भारतकी जैसी कठिन समस्या है, जिससे कि हम अब तक तन-मन-धनसे मर रहे हैं, ऐसी पाश्चात्य देशोंमें कहीं भी नहीं है। वह समस्या यह है कि भारतका समस्त स्वत्व दो भागोंमें बाँट दिया गया है और सत्यानासी विभागके मूलमें है लोभ। इसीलिए, रूसमें आकर अब इस लोभको तिरस्कृत होते देखा, तो उससे मुझे जितना गहरा आनन्द हुआ, उतना शायद दूसरेको न होता। फिर भी मूल बातको मनसे अलग नहीं कर सकता, वह यह कि आज जो केवल भारतमें ही नहीं, बल्कि सारे संसारमें ही किसी-न-किसी बड़ी विपत्तिका जाल बिछा दिखाई देता है, उसकी प्रेरणा है लोभ। यदि किसीको कोई भय है तो उस लोभका ही है, संशय है तो उस लोभका है; जितनी भी अस्त्र-शस्त्रोंकी तैयारियाँ हैं, जितना भी मिथ्याचरण और निष्ठुर राजनीति है, सब लोभके लिए।

और एक तर्कका विषय है डिक्टेटरशिप, यानी राजकीय कार्योंमें नायकतंत्रका झगड़ा। किसी भी विषयमें नायक-पनको मैं स्वयं पसंद नहीं करता। हानि या दंडके भयको आगे रखकर अथवा भाषा तथा हावभाव या व्यवहारमें जिद पकड़कर अपने मतके प्रचारके रास्तेको बिलकुल साफ करनेकी चेष्टा मैं कभी भी अपने कार्यक्षेत्रमें नहीं कर सका। इसमें सन्देह नहीं कि

एकनायकतामें विपत्तियाँ बहुत हैं; उसकी क्रियाकी एकतानता और नित्यता अनिश्चित है, चलानेवाले और चलनेवालोंके बीच इच्छाका असम्पूर्ण योग (मेल) होनेसे विद्रोहके कारण हमेशा बने ही रहेंगे, इसके सिवा बलपूर्वक चलाये जानेका अभ्यास चित्त और चरित्रके बलको घटाता है; इसकी सफलता एक ओर जहाँ बाहरसे दो-चार फसलोंसे अंजलि भर देती है, वहाँ दूसरी ओर उसकी भीतरी जड़को सुखा देती है।

जनताका भाग्य यदि उनकी सम्मिलित इच्छाके द्वारा ही न बने और न पनपे, तो वह उनके लिए निरा पिंजड़ा बन जाता है, दाना-पानी वहाँ अच्छा भी मिल सकता है, पर उसे नीड़ (घोंसला) नहीं कहा जा सकता,—वहाँ रहते-रहते उसके पंखोंमें लकवा मार जाता है। यह नायकता चाहे शास्त्रोंमें हो, चाहे गुरुओंमें, और चाहे राष्ट्र नेताओंमें, मनुष्यत्वको हानि पहुंचानेवाला ऐसा उपद्रव और कुछ हो ही नहीं सकता।

हमारे समाजमें इस नपुंसकत्वकी सृष्टि युगोंसे होती आई है और इसका फल रोज़मर्रा देखता आया हूं। महात्माजीने जब कहा था कि विदेशी कपड़ा अपवित्र है, तब मैंने इसका प्रतिवाद किया था; कहा था कि विदेशी कपड़ा आर्थिक दृष्टिसे हानिकर हो सकता है, पर अपवित्र नहीं हो सकता। परन्तु हमें जो शास्त्रके आधारपर चलनेवाले अन्ध-चित्तको समझाना है, नहीं तो काम नहीं हो सकता,—मनुष्यत्वका ऐसा चिरस्थायी

अपमान और क्या हो सकता है ? नायक-चालित देश इसी प्रकार मोहाच्छन्न हुआ करता है ;—एक जादूगर जहाँ विदा हुआ, वहाँ दूसरा जादूगर आकर नया मंत्र बनाकर लोगोंको मोह लेता है।

डिक्टेटरशिप एक आफत है, इस बातको मैं मानता हूं, और उस आफतसे आज रूसमें अनेक अत्याचार हो रहे हैं, इस बातपर भी मैं विश्वास करता हूं। इसकी नञर्थक दिशा ज़बरदस्तीकी दिशा है, वह पाप है। परन्तु सदर्थक दिशा, जो कि शिक्षाकी दिशा है, ज़बरदस्तीसे बिलकुल उलटी है।

देशको सौभाग्यशाली बनानेमें साधारण जनताका हृदय सम्मिलित होना चाहिए, तभी उसकी क्रिया सजीव और स्थायी होती है। अपने एकनायकत्वके लोभमें जो लुब्ध हैं, अपने हृदयको छोड़कर अन्य समस्त हृदयोंको अशिक्षाके द्वारा जड़ बनाये रखना ही उनकी अभिप्राय-सिद्धिका एक मात्र उपाय है। ज़ारके राजत्वकालमें शिक्षाके अभावसे जनता मोहाच्छन्न थी, उसपर सर्वव्यापी धर्ममूढ़ताने अजगर सर्पकी तरह उसके चित्तको सैकड़ों लपेटोंसे जकड़ रखा था। उस मूढ़ताको सम्राट् बड़ी आसानीसे अपने काममें लगा सकते थे। उस ज़मानेमें यहूदियोंके साथ ईसाइयोंका और मुसलमानोंके साथ आरमीनियोंका सब तरहका वीभत्स उपद्रव धर्मके नामपर अनायास ही हो सकता था। तब ज्ञान और धर्मके मोहसे आत्मशक्ति-हीन शिथिल और कई भागोंमें विभक्त देश बाहरके शत्रुओंके सामने सहज ही प्रभावित

हो गया था। एकनायकत्वके चिराधिपत्यके लिए ऐसी अनुकूल अवस्था और कोई भी नहीं हो सकती।

पहले जैसी रूसकी अवस्था थी, वैसी अवस्था हमारे देशमें बहुत दिनोंसे मौजूद है। आज हमारा देश महात्माजीके चालकत्व या नायकत्वके वशमें हो गया है, कल वे नहीं रहेंगे; तब इस नायकत्वके इच्छुक लोग उसी तरह अकस्मात् दिखाई देते रहेंगे, जिस तरह हमारे देशमें धर्म-मोहितोंके सामने नये-नये अवतार और गुरु जहाँ-तहाँ उठ खड़े होते हैं। चीन देशमें आज नायकत्वको लेकर कुछ क्षमता-लोभी ज़बरदस्तोंमें निरन्तर प्रबल संघर्ष चल ही रहा है। कारण सर्वसाधारणमें वह शिक्षा ही नहीं है, जिससे वे अपनी सम्मिलित इच्छाके द्वारा देशका भाग्य स्वयं गढ़ सकें, इसीलिए आज उनका सारा देश नष्टभ्रष्ट हुआ जा रहा है। हमारे देशमें उस नायक-पदको लेकर सनातनी या छीना-झपटी न होगी, ऐसा मैं तो नहीं समझता—तब घासकी तरह दलित-विदलित होकर गरीब ही बेचारे मरेंगे; उसका बुरा परिणाम जो कुछ होगा, उसका फल भुगतना पड़ेगा साधारण जनताको ही।

रूसमें भी आजकल नायकका प्रबल शासन देखनेमें आ रहा है। परन्तु इस शासनने अपनेको चिरस्थायी बनानेका मार्ग नहीं पकड़ा। एक दिन वह मार्ग पकड़ा था ज़ारके शासनने—अशिक्षा और धर्ममोहसे जनसाधारणके मनको प्रभावित करके और चाबुकोंसे उनके पौरुषको शिथिल करके। फिलहाल रूसका

शासनदंड निश्चल है, ऐसा मैं नहीं समझता; किन्तु शिक्षा-प्रचारका उद्यम असाधारण है। इसका कारण यह है कि उसमें व्यक्तिगत या दलगत किसी तरहका धनका लोभ या क्षमता पानेकी लालसा नहीं है। एक खास अर्थनैतिक मतके अनुसार सर्वसाधारणको दीक्षित करके---जाति, वर्ण और श्रेणीका किसी प्रकारका भेदभाव न रखते हुए—सबको मनुष्य बना डालनेको दुर्निवार इच्छा इनमें अवश्य है। यदि वह न होती, तो फ्रांसीसी विद्वानकी बात माननी पड़ती कि शिक्षा देना एक बड़ी-भारी ग़लती है।

उनको यह अर्थनैतिक मत पूरी तौरसे स्वीकार है या नहीं, इसपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया—क्योंकि यह मत अब तक मुख्यतः केवल पोथियोंमें ही बंद पड़ा था, ऐसे बड़े क्षेत्रमें इतने बड़े साहसके साथ उसे मुक्ति कभी नहीं मिली। जिस प्रबल लोभके कारण इस मतको शुरूसे ही घातक बाधाओंका सामना करना पड़ा है, उस लोभको ही इन लोगोंने कठोरताके साथ हटा दिया है। परीक्षाओंके भीतरसे परिवर्तन होते-होते इस मतका कितना अंश कहां जाकर स्थायी होगा, इसका निश्चित उत्तर अभी कोई नहीं दे सकता। परन्तु यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि रूसकी सर्वसाधारण प्रजाको इतने दिनों बाद जो शिक्षा अधिकतासे और अनिवार्यरूपसे मिल रही है, उससे उनके मनुष्यत्वका उत्कर्ष और सम्मान स्थायी हो गया है।

वर्तमान रूसमें निष्ठुर शासनकी जनश्रुति हमेशा ही सुननेमें आती है,—हो सकता है कि यह बात असम्भव न हो। निष्ठुर शासनकी धारा वहाँ हमेशासे बहती आई है, सहसा उसका सर्वथा नाश न होना स्वाभाविक है। फिर भी वहाँ चित्रोंसे, सिनेमाओंसे, इतिहासकी व्याख्याओंसे पुराने ज़मानेके कठोर शासन और अत्याचारोंको सोवियट-सरकार बराबर सबके सामने रख रही है। यह सरकार यदि स्वयं भी इस तरहके निष्ठुर मार्गपर चलती है, तो लोगोंमें निष्ठुर व्यवहारके प्रति इतनी अधिक घृणा पैदा कर देना, और कुछ नहीं तो, अद्‌भुत भूल ज़रूर है। सिराजउद्दौलाकी काली कोठरीकी नृशंसताको यदि सिनेमा आदि द्वारा सर्वत्र लज्जित किया जाता, तो उसके साथ-ही-साथ जालियानवाला-बागके हत्याकांडको कमसे कम मूर्खता कहनेमें कोई दोष न होता। क्योंकि ऐसी दशामें विमुख अस्त्र अस्त्रधारीको ही लगेगा।

सोवियट रूसमें कार्ल मार्क्‌सकी अर्थनीतिके कारण प्रजाकी विचारबुद्धिको एक साँचेमें ढालनेका ज़बरदस्त प्रयत्न हो रहा है; और उस ज़िद्‌के कारण इस विषयमें स्वतंत्र आलोचनाका रास्ता ज़ोरके साथ रोक दिया गया है। इस अपवादको मैं सत्य समझता हूं। कुछ दिन पहले यूरोपके महायुद्धके समय इस तरह मुँह बंद करना और गवर्मेन्टकी नीतिके विरुद्ध बोलनेवालोंके मत-स्वातंत्र्यको जेलखाने या फाँसीके तख़्तेपर चढ़ाकर उसके अन्त कर देनेकी चेष्टा की गई थी।

जहाँ शीघ्र ही फल-प्राप्तिका लोभ अत्यंत प्रबल है, वहाँ राष्ट्रनायक मनुष्यके मत-स्वातंत्र्यके अधिकारको स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि ये सब बातें पीछे होंगी, फिलहाल काम सिद्ध करना चाहिए। रूसकी अवस्था युद्धकालकी अवस्था है; भीतर और बाहर सर्वत्र शत्रु मौजूद हैं। वहाँकी समस्त परीक्षाओंको नष्ट कर देनेके लिए आज चारों ओर छल-बलसे काम लिया जा रहा है। इसीसे वे अपने निर्माण-कार्यकी नींवको जहाँ तक हो, जल्दी पक्की कर लेना चाहते हैं, और इसीलिए वे बल-प्रयोग करनेमें हिचकिचाते नहीं हैं। परन्तु मतलब चाहे कितना ही जरूरी क्यों न हो, 'बल' हमेशा इकतरफा चीज़ है। उससे बिगड़ता ही है, बनता नहीं। सृष्टि या गठनकार्यमें दो पक्ष होते हैं; उपादानको अपने पक्षमें लाना ही होगा—मार-पीटकर नहीं, बल्कि उसके नियमको स्वीकार करके।

रूस जिस काममें लगा हुआ है, वह काम युगान्तरका मार्ग तैयार करता है; उसके लिए पुराने विधि-विश्वासोंकी जड़ोंको पहलेकी ज़मीनसे उखाड़ फेंकना और चिर-अभ्यस्त आरामोंका तिरस्कार करना पड़ता है। ऐसा तोड़-फेंकनेका उत्साह जिस भँवरकी सृष्टि करता है, उसके चक्करमें आ जानेपर मनुष्यको अपनी मत्तताका अन्त नहीं मिलता—फिर तो उसकी स्पर्धा और हिम्मत बढ़ जाती है; मानव-प्रकृतिकी साधना करके उसे वश करनेकी आवश्यकताको वह भूल जाता है, समझता है

कि उसके आश्रयसे जबरदस्ती छीनकर ले जानेसे—सीताहरण जैसी घटना कर डालनेसे—उसको प्राप्त किया जा सकता है। उसके बाद लंकामें भले ही आग लग जाय, उसकी चिन्ता नहीं। पर्याप्त समय लेकर स्वभावके साथ समझौता करनेके लिए जिनके पास धैर्य नहीं है, वे उपद्रवमें विश्वास रखते हैं; और अन्तमें वे ठोंक-पीटकर रात-ही-रातमें जिस चीजको गढ़ डालते हैं, उसके भरोसे काम नहीं चलता और न वह अधिक दिनों तक स्थायी ही रहती है।

जहाँ आदमी तैयार नहीं हैं, जहाँ लोकमत तैयार नहीं हुआ है, वहाँके उग्र दण्डनायकोंपर मेरा विश्वास नहीं है। पहला कारण यह है कि अपने मतके विषयमें शुरूमें ही पूरा विश्वास कर लेना सुबुद्धि नहीं है, उसे कार्यरूपमें परिणत करते-करते ही उसका परिचय मिलता है। उधर जो नेता धर्मतंत्रके समय शास्त्र-वाक्योंको नहीं मानते, इधर उन्हें ही देखता हूं कि अर्थतंत्रके समय वे शास्त्र मानकर अटल बने बैठे हैं। उस शास्त्रके साथ—जैसे बनता है वैसे, टोंटी दाबकर, चोटी पकड़कर—मनुष्यको मिलाना चाहते हैं; फिर वे इस बातको भी भूल जाते हैं कि 'मार-पीटकर महुरापर बैठाओ भी, तो हुर्र नहीं होती'—वह कभी सत्य नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा जाय तो जहाँ जितनी ज्यादा जबरदस्ती होती है, वहाँ उतना ही कम सत्य होता है।

यूरोपमें जब ईसाई शास्त्र-वाक्योंपर लोगोंका जबरदस्त विश्वास था, तब मनुष्यके हाड़-गोड़ तोड़कर, उसे जलाकर,

नोंचकर, झकझोरकर धर्मकी सत्यता प्रमाणित करनेकी कोशिश चलती रहती थी। आज बोलशेविक-मतवादके विषयमें उसके विरोधी और समर्थक दोनों ही पक्ष उसी तरहकी जबरदस्त सीनाजोरीकी युक्तियोंका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। दोनों ही पक्ष एक दूसरेकी यह शिकायत करते हुए पाये जाते हैं कि मनुष्यके विचार-स्वातंत्र्यके अधिकारको दबाया जा रहा है। बीचमें पड़ी पश्चिम-महादेशकी मानव-प्रकृति बेचारी आज दोनों ओरसे पिसी जा रही है।

सोवियट रूसकी लोक-शिक्षाके सम्बन्धमें मेरा जो वक्तव्य है, वह मैं कह चुका। इसके सिवा इस बातकी भी आलोचना कर चुका हूं कि वहांकी राजनीति मुनाफा-लोलुपोंके लोभसे कलुषित नहीं है, और इसलिए उन्होंने रूसराष्ट्रके अन्तर्गत अनेक प्रकारकी प्रजाको—जाति और वर्णका किसी प्रकार भेदभाव न रखकर सबको—समान अधिकार और उत्कृष्ट शिक्षाकी सुविधाएँ देकर सम्मानित किया है। मैं ब्रिटिश भारतकी प्रजा हूं, और इसीलिए रूसके इस कार्यसे मुझे इतना गहरा आनन्द हुआ है।

अब मैं समझता हूं कि एक अन्तिम प्रश्नका उत्तर मुझे देना पड़ेगा। बोलशेविक अर्थनीतिके सम्बन्धमें मेरा क्या मत है, यह प्रश्न बहुतसे लोग मुझसे किया करते हैं। मुझे डर इस बातका है कि भारतवर्ष हमेशासे शास्त्र-शासित और पंडा-चालित देश रहा है, विदेशसे आये हुए वचनोंको एकदमसे वेदवाक्य मान लेनेकी ओर ही हमारे मुग्ध हृदयका झुकाव है।

गुरुमंत्रके मोहसे अपनेको सम्हालकर हमें कहना चाहिए कि प्रयोगके द्वारा ही मतका विचार हो सकता है, अभी तक परीक्षा खतम नहीं हुई है। कोई भी मनुष्य-सम्बन्धी मतवाद क्यों न हो, उसका मुख्य अंग है मानव-प्रकृति। इस मानव-प्रकृतिके साथ मतवादका कहाँ तक सामंजस्य हो सकता है, इस विषयमें पक्का सिद्धान्त होनेमें समय लगता है। तत्त्वको सम्पूर्णतः ग्रहण करनेके पहले कुछ ठहरना या समय देना पड़ता है। मगर फिर भी उस विषयमें आलोचना की जा सकती है, और वह सिर्फ लॉजिक या गणितपर ही नहीं—बल्कि मानव-प्रकृतिको सामने रखकर।

मनुष्यमें दो दिशाएँ हैं—प्रथमतः वह स्वतंत्र है, दूसरे वह सबके साथ सम्बन्ध-युक्त है। इनमें से एकको छोड़ देनेपर जो बाकी बचे, वह अवास्तविक है। जब किसी एक धुनमें पड़कर मनुष्य एक ही ओर एकान्तरूपसे लापता हो जाता है, और अपना वजन नष्ट करके तरह-तरहकी विपत्तियाँ लाता रहता है, तब सलाहकार आकर संकटको हलका करना चाहते हैं, कहते हैं कि दूसरी दिशाको एकदम छाँटकर निकाल दो। व्यक्ति-स्वातंत्र्य जब उत्कट स्वार्थका रूप धारण करके समाजमें तरह-तरहके उपद्रव मचाता है, तब उपदेशक लोग कहते हैं—'स्वार्थ' से 'स्व' को एक ही बारमें गड़ासेसे उड़ा दो, तब सब ठीक हो जायगा। इससे उपद्रव घट सकता है, मगर उसका नाश नहीं हो सकता। लगाम टूट जानेपर घोड़ा गाड़ीको

खंदकमें डाल देता है,—इसलिए घोड़ेको गोलीसे उड़ा दिया जाय तो फिर गाड़ी ठीकसे चलेगी, ऐसा खयाल न करके लगाम ठीक करनेकी चिन्ता करना ही बुद्धिमत्ता है।

शरीरसे पृथक्-पृथक् अस्तित्व होनेसे ही मनुष्य छीना-झपटी किया करता है, परन्तु समस्त मनुष्योंको एक रस्सीमें बाँधकर सारी पृथिवीमें उसे एक ही विपुल कलेवरमें लानेका प्रस्ताव करना—यह बात तो किसी बलसे गर्वित अर्थतात्त्विक ज़ारके मुखसे ही शोभा देती है। विधाताकी विधिको बिलकुल जड़से उखाड़ फेंकनेकी चेष्टामें जितना साहस है, उससे कहीं ज्यादा उसमें मूढ़ताकी जरूरत पड़ती है।

एक दिन ऐसा था, जब भारतवर्षका समाज मुख्यतः ग्रामीण समाज था। इस तरहके घनिष्ठ ग्राम्य समाजमें व्यक्तिगत सम्पत्तिके साथ सामाजिक सम्पत्तिका सामंजस्य होता था। लोकमतका ऐसा प्रभाव था कि धनी अपने धनको सम्पूर्णतः अपने भोगमें लगानेमें अपना अगौरव समझते थे। समाज उसकी सहायता-सहानुभूति ग्रहण करता था, तभी वह कृतार्थ होता था—अर्थात् अंगरेजीमें जिसे चैरिटी कहते हैं, उसमें वह बात नहीं थी। धनीके लिए वहीं स्थान होता था, जहाँ निर्धन होते थे। उस समाजमें अपने स्थान और सम्मानकी रक्षा करनेके लिए धनीको अनेक परोक्ष प्रकारोंसे बड़े-बड़े अंकोंमें टैक्स देना पड़ता था। गाँवमें विशुद्ध जल, वैद्य, पंडित, देवालय, नाटक, गान, कथा, कुआ, बावड़ी, मार्ग आदि जो कुछ होता

था, वह गाँवके व्यक्तिगत अर्थके समाजमुखी प्रवाहसे ही होता था, राज-करसे नहीं। इसमें व्यक्तिगत स्वेच्छा और समाजकी इच्छा दोनों ही मिल जाती थीं। इस तरहके आदान-प्रदान राष्ट्रीय यंत्रसे नहीं होते थे, किन्तु मनुष्यकी इच्छासे हुआ करते थे, इसलिए इनमें धर्म-साधनकी क्रिया चलती थी; अर्थात् इसमें केवल कानूनके चलनेसे बाहरी फल नहीं लगते थे, बल्कि अन्तरंगमें व्यक्तिगत उत्कर्ष होता रहता था। यह व्यक्तिगत उत्कर्ष ही मानव-समाजका स्थायी कल्याणमय सजीव आश्रय है।

वणिक-सम्प्रदाय—धनको काममें लगाकर लाभ करना ही जिसका मुख्य व्यवसाय है—समाजमें पतित समझा जाता था, क्योंकि तब धनका अधिक सम्मान नहीं था, और इसीलिए धन और अधनका इतना बड़ा भेद भी तब नहीं था। धन अपने बड़े संचयके कारण समाजमें सम्मान नहीं पाता था, बल्कि अपने महान् दायित्वको पूरा करके ही वह सम्मानित होता था; नहीं तो वह लज्जित ही बना रहता था। अर्थात् सम्मान धर्मका था, धनका नहीं। इस सम्मानको समर्पण करते हुए किसीके आत्म-सम्मानकी हानि नहीं होती थी। अब वे दिन चले गये हैं, इसीलिए सामाजिक दायित्वहीन धनके प्रति असहिष्णुताके लक्षण अनेक आकारोंमें दिखाई देने लगे हैं। कारण, धन अब मनुष्यको अर्घ्य नहीं चढ़ाता, बल्कि उसे अपमानित ही करता है।

यूरोपीय सभ्यता पहलेसे ही नगरोंमें पैर जमानेका रास्ता

ढूंढ़ रही है। नगरोंमें मनुष्योंको मौके बहुत मिलते हैं, पर सम्बन्ध बहुत संकुचित हो जाता है। नगर बहुत बड़े होते हैं, मनुष्य वहाँ विक्षिप्त हो जाता है, व्यक्ति-स्वातंत्र्य वहाँ अति मात्रामें होता है, प्रतियोगिताका आन्दोलन भी वहाँ प्रबल होता है। ऐश्वर्य वहाँ धनी और निर्धनके भेदको बढ़ा देता है और चॅरिटीके द्वारा जो-कुछ सम्बन्ध मिलाया जाता है, उसमें न तो सान्त्वना ही है और न सम्मान ही। वहाँ जो धनके अधिकारी और धनके वाहन हैं, दोनोंमें आर्थिक सम्बन्ध होता है, सामाजिक सम्बन्ध विकृत हो जाता है या टूट जाता है।

ऐसी अवस्थामें यंत्रयुग आया, लाभके अंक बढ़ने लगे और हदसे ज़्यादा बढ़ने लगे। यह मुनाफेकी महामारी जब दुनिया-भरमें फैलने लगी, तब जो दूरके रहनेवाले अनात्मीय थे, जो निर्धन थे, उनके लिए रास्ता ही बंद हो गया। चीनको अफीम खानी पड़ी; भारतके पास अपना कहनेको जो-कुछ था, उसे उजाड़ कर देना पड़ा; अफ्रिकाको हमेशा कष्टोंका सामना करना पड़ा और उसके कष्ट दिनोंदिन बढ़ने ही लगे। यह तो हुई बाहरकी बात, अब पश्चिम महादेशको लो, वहाँ भी धनी और निर्धनका भेद आज अत्यन्त कठोर हो गया है; जीवनयात्राका आदर्श बहुमूल्य और उपकरण-बहुल होनेसे— जीवनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त बढ़ जानेसे—दोनों पक्षोंका भेद अत्यंत तीव्र होकर आँखोंके सामने पड़ता है। पुराने ज़मानेमें कम-से-कम हमारे देशमें, ऐश्वर्यका आडम्बर था मुख्यतः सामाजिक

दान और कर्ममें, और अब है व्यक्तिगत भोगमें। यह हमें विस्मित करता है, आनन्दित नहीं करता; इससे ईर्ष्या पैदा होती है, प्रशंसा नहीं होती। सबसे बड़ी बात यह है कि उस समय समाजमें धनका व्यवहार केवल दाताकी स्वेच्छापर निर्भर नहीं था, उसपर सामाजिक इच्छाका प्रबल प्रभाव था, इसलिए दाताको नम्र होकर दान करना पड़ता था, 'श्रद्धया देयं'—यह बात कार्यरूपमें परिणत होती थी।

मतलब यह कि आजकल व्यक्तिगत धन-संचय धनीको प्रबल शक्तिका जो अधिकार देता है, उससे सर्वसाधारणको सम्मान और आनन्द नहीं मिल सकता। उसमें एक ओर असीम लोभ है और दूसरी ओर गहरी ईर्ष्या, बीचमें है दुस्तर पार्थक्य। समाजमें सहयोगिताकी अपेक्षा प्रतियोगिता हदसे ज्यादा बढ़ गई है। यह प्रतियोगिता अपने देशमें है एक श्रेणीके साथ अन्य श्रेणीकी, और बाहर है एक देशके साथ दूसरे देशकी। इसीसे चारों ओर संशयहिंस्र अस्त्र चमक रहे हैं, उनकी तादाद घटानेमें कोई भी किसी तरह समर्थ नहीं हो रहा। और जो परदेशी इस दूरस्थित भोग-राक्षसकी क्षुधा मिटानेके काममें लगे हुए हैं, उनकी रक्तहीन कृशता युगोंसे बढ़ती ही जाती है। जो अपने बलके दर्पमें यह बात कहते हैं कि इस बहु-विस्तृत कृशतामें संसारकी अशान्ति आकर घर नहीं बना सकती, कहना चाहिए कि वे अपनी मूर्खताके अन्धकारमें भटक रहे हैं। जो हमेशा दुःख-ही-दुःख पा रहे हैं, वे अभागे ही दुःख-विधाताके भेजे हुए दूतोंके प्रधान

सहायक हैं, उनके उपवास-लंघनोंमें प्रलयकी आग संचित हो रही है।

वर्तमान सभ्यताकी इस अमानविक अवस्थामें बोलशेविक-नीतिका अभ्युदय हुआ है। वायुमंडलके एक अंशमें तनुत्व उपस्थित होनेपर आँधी जैसे बिजली-रूपी दाँत पीसकर घातक मूर्ति धारण करके झपटकर आती है, यह भी वैसा ही कांड है। मानव-समाजमें सामंजस्य जाता रहा है, इसीलिए इस अप्राकृतिक विप्लवका प्रादुर्भाव हुआ है। समष्टिके प्रति व्यष्टिकी उपेक्षा क्रमशः बढ़ती ही जा रही थी, इसीसे समष्टिकी दुहाई देकर आज व्यष्टिकी बलि चढ़ानेका आत्मघाती प्रस्ताव उठ खड़ा हुआ है। समुद्र-तटपर अग्निगिरिका उपद्रव शुरू हुआ है, इसलिए समुद्रको ही एकमात्र बन्धु घोषित किया जा रहा है। तटहीन समुद्रका जब सम्पूर्ण परिचय मिलेगा, तब किनारे पहुंचनेके लिए फिर निहोरे करने पड़ेंगे। उस व्यष्टि-वर्जित समष्टिकी अवास्तवताको मनुष्य कभी भी सहन नहीं कर सकता। समाजसे लोभके दुर्गोंको जीतकर अपने कब्जेमें लाना होगा, परन्तु व्यक्तिको वैतरणी पार करके समाजकी रक्षा कौन कर सकता है? सम्भव है, वर्तमान रुग्न युगमें बोलशेविक नीति ही सुचिकित्सा हो, परन्तु चिकित्सा तो हमेशा नहीं चलाई जा सकती, वास्तवमें डाक्टरका शासन जिस दिन दूर होगा, वही दिन रोगीके लिए शुभ दिन है।

हमारे देशमें, हमारे गाँव-गाँवमें धन-उत्पादन और परिचालनके काममें समवाय नीतकी जय हो—यही मेरी कामना है।



पायोनिग्रर विद्यार्थियोंमें रवीन्द्रनाथ

कारण, इस नीतिमें जो सहयोगिता है, उसमें सहयोगियोंकी इच्छाका और उनके विचारोंका तिरस्कार नहीं किया जाता, अतएव मानव-प्रकृतिका सम्मान किया जाता है। उस प्रकृतिको विरुद्ध बनाकर बलसे काम लिया जाय, तो वहाँ बल कुछ काम नहीं देगा।

इसके साथ ही एक बात खास तौरपर कहनी है, वह यह कि जब मैं चाहता हूं कि हमारे देशमें गाँव जीवित हो उठें, तब इस बातको हरगिज़ नहीं चाहता कि हममें फिरसे ग्राम्यता या गँवारूपन आ जाय। ग्राम्यता एक ऐसा संस्कार है, जिसकी विद्या, बुद्धि, विश्वास और कार्यका ग्राम-सीमाके बाहरसे कुछ सम्बन्ध नहीं, अर्थात् वह ग्राम-सीमामें ही आबद्ध रहता है। वर्तमान युगकी जो प्रकृति है, वह सिर्फ उससे पृथक् ही नहीं, बल्कि विरुद्ध है। वर्तमान युगकी विद्या और बुद्धिकी भूमिका विश्वव्यापी है,—यद्यपि उसके हृदयकी अनुवेदना सम्पूर्णतः उतनी व्यापक नहीं हुई है। गाँवोंमें ऐसा जीवन लाना होगा, जिसके उपादान तुच्छ और संकीर्ण न हों और जिसके द्वारा मानव-प्रकृतिमें कभी भी किसी भी तरह ओछापन न आने पावे, और न उसपर अन्धकार ही छा सके।

इंग्लैण्डमें एक दिन किसी ग्राममें एक किसानके घर गया था। देखा कि लन्दन जानेके लिए उस घरकी स्त्रियोंका चित्त चंचल हो रहा है। शहरके सब तरहके ऐश्वर्योंकी तुलनामें गाँवोंकी पूँजी इतनी दीन-हीन है कि गाँवके चित्त स्वभावतः ही सर्वदा शहरकी ओर खिंचते रहते हैं। देशके भीतर रहते

हुए भी गाँव मानो निर्वासित-से हो रहे हैं। रूसमें दूसरी ही बात देखी—गाँवोंके साथ शहरोंकी जो प्रतिकूलता है, उसे हमेशाके लिए मिटा देनेकी कोशिश हो रही है। यह उद्योग यदि अच्छी तरह सफल हुआ, तो शहरकी अस्वाभाविक अतिवृद्धि दूर हो जायगी। देशकी प्राण-शक्ति और विचार-शक्ति देशमें सर्वत्र व्याप्त होकर अपना काम कर सकेंगी।

हमारे देशके गाँव भी शहरकी जूठन और बचे-खुचेसे पेट भरनेवाले न होकर मनुष्यत्वके पूर्ण सम्मान और सम्पदके भोक्ता हों—यही मेरी कामना है। एकमात्र समवाय-पद्धतिसे ही गाँव अपनी सर्वाङ्गीन शक्तिको डूबतेसे बचा सकेंगे—ऐसा मेरा विश्वास है। बड़े खेदका विषय है कि आज तक हमारे देशमें समवाय-पद्धति सिर्फ रुपये उधार देनेमें ही थककर एक जगह बैठ गई;—यह तो महाजनी ग्राम्यताको ही कुछ झाड़-पोंछकर साफ-सुथरा रूप दिया गया है,—सम्मिलित उद्योगसे जीविका उपार्जन और भोगके काममें वह नहीं लग सकी।

इसका मुख्य कारण यह है कि जिस शासनतंत्रके आधारपर नौकरशाही समवाय-नीति हमारे देशमें आविर्भूत हुई है, वह यंत्र अन्धा-बहरा-उदासीन है। इसके सिवा, लज्जासे सिर झुकाकर शायद यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि चरित्रमें जिस गुणके होनेपर संगठित होना सहज होता, हममें वह गुण नहीं है। जो कमजोर हैं, परस्परमें उनका विश्वास भी कमजोर होता है। अपनेपर अश्रद्धा ही दूसरोंपर अश्रद्धाकी नींव है।

जो बहुत समयसे पराधीन हैं, उनका आत्म-सम्मान जाता रहा है, इसीसे यह दुर्गति है। प्रभु-श्रेणीके शासनको वे सिर झुकाये स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु स्व-श्रेणीका संचालन उनसे सहा नहीं जाता, स्व-श्रेणीको धोखा देना और उसके साथ निष्ठुर व्यवहार करना उनके लिए स्वाभाविक ही है।

रूसी कहानियोंकी पुस्तकें पढ़नेसे मालूम हो सकता है कि वहाँके बहुत कालसे सताये हुए किसानोंकी भी यही दशा है। कितना ही दुःसाध्य क्यों न हो, और कोई रास्ता ही नहीं है, परस्परकी शक्ति और हृदयको सम्मिलित करनेका लक्ष्य बनाकर प्रकृतिका संशोधन करना ही पड़ेगा। यह काम समवाय-पद्धतिसे कर्ज़ देकर पूरा नहीं हो सकता, एकत्र संगठित कार्य कराकर ग्रामवासियोंके चित्तको एकताकी ओर उन्मुख करके तब कहीं हम गाँवोंकी रक्षा कर सकते हैं।

परिशिष्ट

१—ग्रामवासियोंके प्रति*

बन्धुओ, एक वर्ष प्रवासमें रहनेके बाद, पश्चिम महादेशके नाना स्थानोंमें भ्रमण करके आज फिर अपने देशमें आया हूं। तुम लोगोंसे एक बात कहना जरूरी है,—तुममें से कितने लोग ऐसे होंगे, जो शायद इस बातका अनुभव ही न कर सकेंगे कि मेरी बात कहाँ तक सत्य है। पश्चिमके देश-विदेशका भीतरी दुःख आज प्रकट हो गया है—इस बातकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वे सुखी नहीं हैं। वहाँ बड़ी तादादमें असबाब है, तरह-तरहके आयोजन और उपकरण हैं और होते जा रहे हैं—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इस छोरसे लेकर उस छोर तक वहाँ गहरी अशान्ति है, गहरा दुःख उन्हें सब तरफसे घेरे हुए है।

यह न समझना कि अपने देशपर मुझे अभिमान है, इसलिए ऐसा कह रहा हूं। वास्तवमें यूरोपपर मेरी गहरी श्रद्धा है। पश्चिम महादेशमें मनुष्यने जैसी साधना की है, उस साधनाके

---

* श्रीनिकेतनमें वार्षिकोत्सवपर ग्रामवासियोंके प्रति दिया हुआ भाषण।

मूल्यको मैं हृदयसे स्वीकार करता हूं। स्वीकार न करनेको मैं अपराध समझता हूं। उसने मनुष्यको बहुत ऐश्वर्य दिया है, ऐश्वर्यका मार्ग विस्तृत किया है। सब कुछ हुआ; परन्तु दुःख और पापोंके द्वारा कलिकाल ऐसे किसी छिद्रसे प्रवेश करता है कि पहले तो हमें उसका कुछ भान ही नहीं होता—फिर धीरे-धीरे उसका फल हमारे सामने आता है।

मैं वहांके अनेक विचारशील मनीषियोंके साथ मिला हूं, और उनसे बातचीत भी की है। वे उद्विग्नताके साथ सोच रहे हैं - इतनी विद्या, इतना ज्ञान, इतनी शक्ति, इतनी सम्पद है, किन्तु सुख क्यों नहीं है—शान्ति क्यों नहीं है? प्रतिक्षणमें सब शंकित रहते हैं कि न-जाने कब कैसा भीषण उपद्रव प्रलयकाण्ड उठ खड़ा हो। उन्होंने क्या निश्चय किया है, मैं नहीं कह सकता। अभी तक शायद कोई कारण निश्चित नहीं कर सके हैं, या उनमें से अनेक प्रकारके लोगोंने अपने-अपने स्वभावके अनुसार अनेक कारण निश्चित किये होंगे। मैंने भी इस सम्बन्धमें कुछ विचार किया है। मैं जैसा समझता हूं, वह पूर्णतः सत्य है या नहीं, मैं नहीं कह सकता; किन्तु मेरा अपना विश्वास है कि इसका कारण कहाँ है, मन-ही-मन मैं उसका ठीक-ठीक अनुभव कर रहा हूं।

पश्चिम देशने जिस सम्पदकी सृष्टि की है, वह अतिविपुल, प्रचंड, शक्ति-सम्पन्न यंत्रके द्वारा की है। धनका वाहन बना है यंत्र, और उस यंत्रका वाहन हुआ है मनुष्य—लाखों-हजारों

मनुष्य। उसके बाद यान्त्रिक सम्पद्की वेदी-प्रतिष्ठाके रूपमें उन्होंने शहर बनाये, उन शहरोंका पेट उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, और उसकी परिधि अब बहुत बड़ी हो गई है। न्यूयार्क, लन्दन आदि शहरोंने अनेक गाँव-उपगाँवोंकी प्राणशक्ति निकालकर तब कहीं बृहत् दानवीय रूप धारण किया है। परन्तु एक बात याद रखनी होगी—यह कि शहरमें मनुष्य कभी भी घनिष्ठ रूपसे सम्बन्ध-युक्त नहीं हो सकता। दूर जानेकी जरूरत नहीं, कलकत्ता शहरको ले लो, जहाँ हम रहते हैं। मैं जानता हूं, यहाँ पड़ोसियोंका पड़ोसियोंके साथ सुख-दुःखमें आपद्-विपद्में कोई सम्बन्ध नहीं। हम उनका नाम तक नहीं जानते।

मनुष्यका एक स्वाभाविक धर्म है, वह है उसका समाजधर्म। समाजमें वह अपने लिए यथार्थ आश्रय पाता है परस्परके सम्बन्ध-सहयोगसे। परस्पर सहायता करनेसे मनुष्यको जो शक्ति मिलती है, उसका जिक्र मैं नहीं कर रहा हूं। मेरा कहना है, मनुष्यका सम्बन्ध जब चारों तरफके पड़ोसियोंमें, अपने घरमें और घरके बाहर व्याप्त हो जाता है, तब उस सम्बन्धकी विशालता उसे स्वतः ही आनन्द देती है। हमारी गहरी तृप्ति तो वहीं है, जहाँ केवल व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं, सुयोग-सुविधाओंका सम्बन्ध नहीं, व्यवसायका सम्बन्ध नहीं, किन्तु सब तरहके स्वार्थके बाहर आत्मीयताका सम्बन्ध है। वहाँ मनुष्य और सब चीजोंसे वंचित रह सकता है, किन्तु मानव-आत्माकी तृप्ति वहाँ पूरी मात्रामें मौजूद है।

विदेशोंमें मुझसे बहुतोंने पूछा है—जिसको कि वे happiness कहते हैं और हम सुख कहते हैं, उसका आधार कहां है ?

मनुष्य सुखी वहीं होता है, जहां मनुष्यके साथ मनुष्यका सम्बन्ध सत्य हो जाता है,—यह सर्वमान्य बात है। परन्तु फिर भी आज इसे समझा देनेकी ज़रूरत है। क्योंकि इस सम्बन्धको छोड़कर जहां व्यवसाय-घटित सम्बन्ध है, वहाँ मनुष्य इतना अधिक फल प्राप्त करता है—बाहरी फल—उसमें इतना मुनाफा होता है, इतने तरहके मौके ('चान्स') मिलते हैं कि फिर मनुष्यमें यह कहनेको हिम्मत नहीं रह जाती कि यही सत्यताका चरम विकास नहीं है। इतना उसे मिलता है। इतनी उसको शक्ति हो जाती है। यंत्रके द्वारा जो शक्ति प्रबल हो उठती है, उससे वह सारे संसारको इस तरह प्रभावान्वित कर लेता है कि फिर वह समझने लगता है कि विदेशके इतने लोगोंको उसने अपना दास बना लिया है, इतना उसमें अहंकार हो जाता है, और उसके साथ ही ऐसी बहुतसी सुविधाएँ उसे मिलती हैं, जो वास्तवमें मनुष्यकी जीवन-यात्राके मार्गमें अत्यन्त अनुकूल पड़ती हैं। वे ऐश्वर्यके द्वारा पैदा हुई हैं। उन्हें मनुष्य सहज ही चरम लाभ समझने लगता है। ऐसा समझे बगैर रह नहीं सकता। इसके हाथ उसने मनुष्यकी सबसे बड़ी चीज बेच दी है—वह है मानव-सम्बन्ध।

मनुष्य मित्र चाहता है, जो सुख-दुःखमें उसे अपनावें, जिनके पास बैठकर बातचीत करनेसे उसे खुशी हो, जिसके

मा-बापोंके साथ उसका सम्बन्ध था और जिन्हें वह माता-पिताके समान समझता था, और जिनके बाल-बच्चोंको वह अपने ही बच्चोंके समान जानता हो। इस प्रकारकी पारिवारिक मित्र-मंडलीमें मनुष्य अपने मानवत्त्वका अनुभव करता है।

यह बात सच है कि एक विशालकाय दानवीय ऐश्वर्यमें मनुष्य अपनी शक्तिका अनुभव करता है। वह भी बहुमूल्य है, मैं उसकी अवज्ञा न करूंगा। किन्तु उस शक्तिके विस्तारके साथ-साथ यदि मानवी सम्बन्धके विकासके लिए अनुकूल क्षेत्र क्रमशः संकीर्ण होता गया, तो वह शक्ति फिर शक्ति नहीं रहती—शक्तिशूल हो जाती है, वह मनुष्यको मारती है, मारनेके अस्त्र बनाती है, मनुष्यका सर्वनाश करनेके लिए षड्यंत्र करती है, असत्यका प्रसार करती है, अनेक निष्ठुरताओंका पालन करती है, और समाजमें नाना प्रकारके विषवृक्षोंका बीजारोपण करती है। ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता, होगा ही। दर्द या सहानुभूति जब जाती रहती है, मनुष्य जब अधिकांश मनुष्योंको आवश्यकीय सामग्रीकी दृष्टिसे देखनेका आदी बन जाता है, जब देखता है कि लाखों मनुष्य मिलके पहिये घुमाकर उसकी निजी मिलका कपड़ा सस्ता करेंगे, उसके अनापशनाप खर्चके लिए रुपये इकट्ठा कर देंगे, उसके अंकटके भोग-उपभोगके लिए उपकरण सुगम कर देंगे—एक मनुष्य जब अनेक मनुष्योंको इस तरह देखनेका आदी बन जाता है, तब वह यथार्थ मनुष्यको नहीं देखता—मनुष्यकी मेशीनको देखता है।

यहाँ चावलकी मिलें हैं। उस मिल-दानवके चक्के हैं संथालोंके बाल-बच्चे। धनी क्या उन्हें आदमी समझते हैं? उनके सुख-दुःखोंका क्या हिसाब है? रोजकी मजूरी देकर उनसे कसकर खून सुखानेवाला काम वसूल कर लिया जाता है। इससे रुपया भी मिलता है, सुख भी मिलता है और बहुत मिलता है, मगर मनुष्यकी सबसे श्रेष्ठ वस्तु मानवत्व बिक जाता है। दया-माया, परस्परकी स्वाभाविक अनुकूलता, दर्द-सहानुभूति—कुछ भी नहीं रहता। कौन देखता है—उनके घरमें क्या होता है क्या नहीं! किसी समय हमारे यहाँके गाँवोंमे ऊँच-नीचका भेद था ही नहीं, सो बात नहीं,—प्रभु थे, दास थे, पंडित थे, मूर्ख थे, धनी थे, निर्धन थे,—परन्तु सबके सुख-दुःखोंपर सबकी दृष्टि थी। उन्होंने आपसमें मिलकर एक एकत्रीभूत जीवन-यात्रा तैयार कर ली थी। पूजा-पार्वणमें, आनन्द-उत्सवमें- बात-बातमें प्रतिदिन वे नाना प्रकारसे मिला-जुला करते थे। ठाकुरद्वारेमें इकट्ठे होकर बाबा-परबाबाओंके साथ बैठकर बातचीत किया करते थे। जो अन्त्यज थे, वे भी एक किनारे बैठकर आनन्दका भाग लिया करते थे। ऊँच-नीच और ज्ञानी-अज्ञानियोंके बीचमें जो रास्ता था—जो सेतु था, वह खुला था।

मैं देहातोंकी बात कह रहा हूं, पर याद रखना—देहात ही तब सब-कुछ थे, शहर तब नगण्य थे, यह नहीं कहना चाहता कहनेका मतलब यह है कि शहर गौण थे, मुख्य नहीं

गाँव-गाँवमें कितने ही पंडित, कितने ही धनी-मानी पैदा होते थे और वे अपने जन्मस्थानको अपनाकर वहीं रहते थे। जीवन-भर नवाबोंके यहां या दरबारमें काम करते थे; और जो-कुछ सम्पत्ति उन्हें मिलती थी, उसे अपने गाँवको ले आते थे। उस धनसे विद्यापीठ चलती थी, पाठशालाएँ खुलती थीं, रास्ते बनते थे, कुएँ खुदते थे, अतिथिशाला और धर्मायतन स्थापित होते थे, जिससे गाँवोंके तन-मन-प्राण एक होकर मिल जाते थे। ग्रामोंमें हमारे देशके प्राणोंकी प्रतिष्ठा थी; उसका कारण यह है कि गाँवोंमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो सामाजिक सम्बन्ध होता है, वह सत्य हो सकता है। शहरोंमें वैसा होना असम्भव है। इसलिए सामाजिक मनुष्य ग्रामोंमें ही आश्रय पाता है। और जो कुछ है, सो सामाजिक मनुष्यके लिए ही तो है। धर्मकर्म सामाजिक मनुष्यके लिए ही हैं। लखपती-करोड़पती रुपयेकी थैलियाँ लिये गद्दियोंपर बैठे आराम कर सकते हैं; बड़ी-बड़ी हिसाबकी बहियोंके सिवा उनकी अपनी चीज और कुछ है ही नहीं; उनके साथ किसीका सम्बन्ध ही नहीं है। अपने रुपयोंकी गद्दी बनाकर धनी उसीमें बैठा रहता है, सर्वसाधारणके साथ उसका सम्बन्ध कहाँ है?

वर्तमान समयसे तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि पहले हमारे देशमें बहुतसी कमियाँ थीं। अब हम नलका पानी पीते हैं, जिसमें रोगके बीज कम हैं, चिकित्साके लिए अच्छे डाक्टर मिलते हैं, अस्पताल हैं और ज्ञान-विज्ञानकी सहायतासे बहुतसी सुविधाएँ भी

मिलती हैं। मैं इनका असम्मान नहीं करता, किन्तु हमारी जो सबसे बड़ी सम्पत्ति थी, वह थी आत्मीयता। उससे बड़ी सम्पद् और कुछ हो ही नहीं सकती। उस आत्मीयताका जहाँ अभाव है, वहां सुख-शान्ति रह ही नहीं सकती।

पश्चिम महादेशमें आदमी-आदमीमें परस्पर जो आत्मीयता है, वह अत्यन्त नकली हुई है। उसकी जड़ गहराई तक नहीं है। सब कहते हैं—मैं भोग करूंगा, मैं बड़ा बनूंगा, मेरा नाम होगा, मुझे मुनाफा होगा। क्योंकि जो ऐसा कर रहा है, उसका कितना बड़ा सम्मान है। उसकी धनशक्तिको तौलते हुए वहांके लोगोंका हृदय रोमांचित हो उठता है। व्यक्तिगत शक्तिकी ऐसी उपासना हमारे देशमें नहीं पाई जाती। वास्तवमें है कुछ नहीं, एक आदमी सिर्फ घूँसेबाजी कर सकता है—वहां घूंसेबाजीका एक बड़ा उस्ताद रास्तेसे निकला, चारों तरफ भीड़ लग गई। खबर मिली कि सिनेमाकी नटी लन्दनके रास्तेसे गाड़ीपर आ रही है, गाड़ीके भीतरसे एक नजर उसे देखनेके लिए जनतासे रास्ता भर गया। हमारे देशमें जो महदाशय कहलाते हैं, उनके आनेपर सब उनके पैर छूते हैं। महात्मा गान्धी आते हैं, तो सारा देश उनके लिए पागल हो जाता है। उनके पास न तो धन है और न बाहुबल, किन्तु है हृदय और आध्यात्मिक शक्ति। मुझे जहाँ तक मालूम है, वे घूंसा चलाना नहीं जानते; परन्तु मनुष्यके साथ मनुष्यके सम्बन्धको उन्होंने बहुत बड़ा माना है, अपनेको उन्होंने पृथक् नहीं रखा। वे हम सभीके हैं, और हम

सब उनके हैं। बस, हो गया, इससे ज्यादा हम कुछ नहीं चाहते। उनसे भी बढ़कर अनेक विद्वान हैं, ज्ञानी हैं, धनी हैं, परन्तु हमारा देश देखना चाहता है—आत्मदानका ऐश्वर्य।

यह क्या कम बात है। इससे समझ सकते हैं कि हमारे देशके लोग क्या चाहते हैं। वे पाण्डित्य नहीं चाहते, ऐश्वर्य नहीं चाहते, और कुछ नहीं चाहते, वे चाहते हैं मनुष्यकी आत्माकी सम्पद्। परन्तु दिन-पर-दिन परिवर्तन होता आया है। मैंने ग्रामोंमें बहुत दिन बिताये हैं;—किसी तरहके कटुशब्द नहीं कहना चाहता। ग्रामकी मैंने जो मूर्ति देखी है, वह बहुत ही भद्दी है। वहां आपसमें ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, धोखेबाज़ी आदि बड़ी विचित्र तरहसे हुआ करती हैं। झूठे मुकदमोंके घातक जालमें फँसाकर एक दूसरेका घात करते रहते हैं। वहाँ दुर्नीतिने कितनी जड़ पकड़ ली है, यह मैंने खुद अपनी आँखोंसे देखा है। शहरमें कुछ सुविधाएँ होती हैं, जो गाँवोंमें नहीं हैं। गाँवोंकी जो अपनी चीज थी, वह भी आज जाती रही।

ग्रामवासियो, मैं आज तुम्हारे पास हृदयमें बड़ी उत्सुकता लिये हुए आया हूं। पहले तुम लोग सामाजिक बन्धनसे एक थे, आज तुम छिन्न-भिन्न होकर एक दूसरेको केवल चोट पहुंचा रहे हो। अब फिर एक बार सम्मिलित होकर तुम्हें अपनी शक्तिको जगा देना होगा। बाहरकी अनुकूलताकी बाट न देखो। तुम्हारे अंदर वह शक्ति मौजूद है—यह जानकर ही भूली हुई शक्तिकी तुम्हें याद दिलानेके लिए ही हम सब यहाँ आये हैं ; क्योंकि तुम्हारी उस

शक्तिपर सारे देशका अधिकार है। नींव ज्यों-ज्यों धसकती जा रही है, त्यों-त्यों ऊपरकी मंजिलें फटती जा रही हैं— ऊपरसे पलस्तर चढ़ाकर अधिक दिन तक उसकी रक्षा नहीं की जा सकती।

आओ तुम लोग, प्रार्थी रूपमें नहीं—सफल कार्यकर्ता बनकर आओ। हमारे सहयोगी बनो, तभी हमारा उद्योग सार्थक होगा। ग्रामोंके सामाजिक प्राणोंको स्वस्थ होकर बलवान बनने दो। गानसे, गीतसे, काव्यसे, बातचीतसे, अनुष्ठानसे, आनन्दसे, शिक्षासे, दीक्षासे चित्तको जगाओ। तुम्हारी दीनता, तुम्हारी दुर्बलता, तुम्हारा अपमान आज भारतवर्षकी छातीपर बड़ा-भारी बोझ बनकर लदा हुआ है। और-सब देश बहुत आगे बढ़ गये हैं, हम अज्ञान और अशिक्षासे स्थावर होकर जहाँ-के-तहाँ पड़े हुए हैं। यह सब कुछ चुटकोमें दूर हो जायगा—यदि हम अपनी-अपनी शक्तिरूपी पूँजीको इकट्ठी करके एक बार उठ खड़े हों। हमारे इस श्रीनिकेतनमें सर्वसाधारणकी उस शक्ति-संगठनकी साधना हो रही है।

२—ग्राम-सेवा*

वेदोंमें अनन्त स्वरूपको कहा है—"आविः"—प्रकाश-स्वरूप। उनका प्रकाश अपनेमें ही सम्पूर्ण है। उनसे मनुष्यकी प्रार्थना यह है—"आविराविर्म्म एधि।" हे आवि, मेरे अंदर तुम्हारा आविर्भाव हो। अर्थात् मैं अपनी आत्मामें अनन्तस्वरूपका प्रकाश चाहता हूं। ज्ञानमें, प्रेममें, कर्ममें मेरी अभिव्यक्ति अनन्तका परिचय दे—इसीमें मेरी सार्थकता है। मनुष्य अपनी चित्तवृत्तिसे, अपनी इच्छाशक्तिसे, अपने कर्मोद्यमसे अपूर्णताका आवरण धीरे-धीरे दूर करके अनन्तके साथ अपना साधर्म्य प्रमाणित करता रहे;—यही मनुष्यका धर्म-साधन है।

अन्य जीव-जन्तु जिस अवस्थामें संसारमें आये हैं, उसी अवस्थामें उनका परिणाम है; अर्थात् प्रकृतिने ही उनको प्रकट किया है और उस प्रकृतिकी प्रेरणाको मानकर ही वे जीवनयात्राका निर्वाह करते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। परन्तु अपने भीतरसे अपने अन्तरतर सत्यको अपने ही उद्यमसे निरन्तर उद्घाटित

* श्रीनिकेतनके उत्सवमें दिया हुआ भाषण।



पायोनियर्स कम्यूनमें दो पायोनियर-विद्यार्थी और रवीन्द्रनाथ

करना होगा;—मनुष्यके लिए यही चरम अध्यवसाय है। उस आत्मोपलब्ध सत्यमें ही उसका प्रकाश है, प्रकृति द्वारा नियन्त्रित प्राणयात्रामें नहीं। इसीलिए उसकी कठिन प्रार्थना यह है कि सभी ओर वह अनन्तका प्रकाश कर सके। इसीसे वह कहता है:—भूमैव सुखं—महत्वमें ही सुख है; नाल्पे सुखमस्ति—थोड़ेमें सुख नहीं है।

मनुष्यके लिए यह सबसे बड़ा दुर्गतिका कारण हुआ कि अपने जीवनमें वह अपने भीतर स्थित भूमाको प्रकट न कर सका—जिससे बाधाएँ कठोर बनकर सामने आती ही रहीं। यह उसके लिए मृत्युसे भी बढ़कर मृत्यु है। आहार और विहारमें, भोग और विलासमें वह परिपुष्ट हो सकता है; परन्तु ज्ञानकी दीप्तिमें, त्यागकी शक्तिमें, प्रेमके विस्तारमें, कर्मोद्यमके साहसमें वह यदि अपने प्रबुद्ध मुक्त-स्वरूपको कुछ अंशोंमें भी प्रकट न कर सके, तो उसे 'महती विनष्टिः' कहा जायगा—वह विनष्टि प्राणीकी मृत्युमें नहीं, किन्तु आत्माके अप्रकाशमें है।

जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका प्रतिशब्द है भूमाका प्रकाश। मनुष्यके भीतर जो निहितार्थ है—जो उसका गम्भीर सत्य है—सभ्यतामें उसीका आविष्कार हो रहा है। सभ्यतामें मनुष्यकी शिक्षा-पद्धति इतनी व्यापक और इतनी कठिन इसीलिए है। उसकी सीमा बराबर आगे ही बढ़ती आती है, सभ्य मनुष्यकी चेष्टाएँ प्रकृतिकी निर्दिष्ट किसी सीमाको चरम नहीं मानना चाहतीं।

मनुष्यमें नित्य बढ़ती हुई सम्पूर्णताकी जो आकांक्षा है, उसकी दो दिशाएँ हैं—एक व्यक्तिगत सम्पूर्णता और दूसरी सामाजिक। किन्तु ये परस्पर संयुक्त हैं—दोनोंके बीचमें कोई भेद नहीं है। व्यक्तिगत उत्कर्षमें ऐकान्तिकता नहीं हो सकती। मानवलोकमें जिन्होंने श्रेष्ठ पदवी पाई है, उनकी शक्ति सबकी शक्तिके भीतरसे ही व्यक्त होती है, वह भिन्न नहीं है। मनुष्य जहाँ व्यक्तिसे विच्छिन्न है, परस्परकी सहयोगिता जहाँ गाढ़ी नहीं है, वहीं बर्बरता मौजूद है। बर्बर या जंगली अकेला ही शिकार करता है, खंड-खंड रूपसे जीविकाके योग्य अनुभव प्राप्त करता है, और उस जीविकाका भोग अत्यन्त छोटी सीमामें सीमित है। अनेक मनुष्योंकी चित्तवृत्तिके उत्कर्षके सहयोगसे अपने चित्तकी उन्नति, बहुत आदमियोंकी शक्तिको मिलाकर अपनी शक्तिका प्राबल्य और अनेकोंकी सम्पद इकट्ठी करके अपनी सम्पदकी प्रतिष्ठा करना ही सभ्य मानवका लक्ष्य है।

उपनिषत् कहता है :—हम जब अपनेमें अन्यको और अन्यमें अपनेको पाते हैं, तभी सत्यके पास पहुंचते हैं—'न ततो विजुगुप्सते'—तब फिर हम छिपकर नहीं रह सकते, तभी हमारा प्रकाश होता है। सभ्यतासे मनुष्य प्रकाशवान और बर्बरतासे अप्रकाश-युक्त होता है। परस्पर एक दूसरेमें आत्मोपलब्धि जितनी सत्य होती जाती है, उतना ही सभ्यताका यथार्थ रूप विकसित होता जाता है। धर्मके नामपर, कर्मके नामपर, सम्पत्तिके नामपर, स्वदेशके नामपर—जहाँ कहीं भी मनुष्य मानवलोकमें भेद उत्पन्न करता है, वहीं दुर्गतिका

कारण गोचर या अगोचरमें बलवान होता रहता है। वहाँ मानव अपने धर्मपर आघात करता है, और वहीं आत्मघातका प्रशस्त मार्ग खुल जाता है। इतिहासमें युग-युगमें इसके प्रमाण मिलते हैं।

सभ्यताके विनाशका कारण ढूंढ़नेसे एक ही कारण मिलेगा, वह है मानव-सम्बन्धकी विकृति या व्याघात। क्षमताशाली और अक्षमके बीचका व्यवधान बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ गया कि सामाजिक सामंजस्य ही नष्ट हो गया। प्रभु और दासमें, भोगी और अभुक्तमें भेद होते-होते समाजके टुकड़े-टुकड़े हो गये और उन भेदोंने समाज-शरीरमें प्राण-प्रवाहके संचारको रोक दिया, जिससे एक अंगकी अतिपुष्टि हुई और अन्य अंगोंमें अतिशीर्णता होनेसे रोगोंने अपना घर बना लिया। संसारके सभी सभ्य देशोंमें इन छिद्रोंसे यमराजके चर विहार कर रहे हैं। अन्य देशोंकी अपेक्षा हमारे देशका प्रवेशद्वार उनके लिए और-भी बेरोक है। यह दुर्घटना हाल ही में हुई है।

एक दिन हमारे देशके गाँव सजीव थे। सारा देश उसी समाजके द्वारा सम्बन्ध-बद्ध था, हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा और धर्म-कर्मका प्रवाह गाँव-गाँवमें प्रवाहित था। देशका विशाल हृदय गाँव-गाँवमें प्रसारित होकर सर्वत्र व्याप्त था, वहीं उसे प्राण मिले थे। यह बात सच है कि आधुनिक अनेक ज्ञान-विज्ञानोंकी सुविधाओंसे हम वंचित थे। उस जमानेमें हमारे उद्योगकी परिधि संकीर्ण थी, वैचित्र्य कम था, जीवन-यात्राकी आवश्यकताओंका अभाव भी काफी था। किन्तु फिर भी सामाजिक प्राण-क्रियाका योग अविच्छिन्न

था। अब वह बात नहीं रही। नदीका स्रोत जब चलता रहता है, तब उस स्रोतके द्वारा ही इस पारसे उसपार या इस देशसे उस देशको जाना-आना और लेन-देनका सम्बन्ध कायम रह सकता है। परन्तु पानी जब सूख जाता है, तब उस नदीकी खाई विघ्नके रूपमें दिखाई देती है; तब किसी समय जो मार्ग था, वही अमार्ग बन जाता है। वर्तमानमें यही बात हुई है।

जिन्हें हम भद्र-साधारण कहते हैं, वे जो विद्या अर्जन करते हैं, उनकी जो आकांक्षा और साधना है, उन्हें जो सुविधाएँ मिलती हैं, वह तो सूखी नदीके सूखे गड्ढोंका एक किनारा है, दूसरे किनारेके साथ उसके ज्ञान, विश्वास, आचार, अभ्यास और दैनिक जीवनयात्राका इतना फासला है कि जो लाँघा नहीं जा सकता। ग्रामवासियोंके पास न तो विद्या है, न स्वास्थ्य है, न सम्पद है, न अन्न-वस्त्र। उधर जो कालेजमें पढ़ते हैं, वकालत करते हैं, डाक्टरी करते हैं, बैंकोंमें रुपये जमा करते हैं, वे ऐसे टापूमें हैं, जिसके चारों ओर अथाह पानी है—ग्रामवासियोंसे उनका सर्वथा विच्छेद है।

जिस स्नायुजालके द्वारा अंग-प्रत्यंगोंकी वेदना शरीरके मर्मस्थल तक पहुँचती है, सम्पूर्ण शरीरका आत्मबोध अंग-प्रत्यंगोंके बोधके सम्मिलनसे पूर्ण होता है, उसमें यदि विच्छेद हो, तो वह उसकी मरण-दशाको ही सूचित करता है। हमारे समाजकी वही मरण-दशा है। देशको मुक्ति देनेके लिए आज जो लोग उत्कट अध्यवसायमें प्रवृत्त हैं—ऐसे लोगोंकी भी वहाँ तक दृष्टि नहीं जाती, जहाँ समाजमें गहरा भेद है और लकनेके लक्षण साफ दिखाई दे रहे हैं। रह-रहकर

उनके मुंहसे यही निकलता है कि कुछ करना चाहिए, किन्तु स्वरके साथ उनके हाथ नहीं उठते। देशके लिए हमारा जो उद्योग है, उसमें देशकी जनताको हम छोड़ ही देते हैं। इसके हम इतने आदी बन गये हैं कि इसकी विराट् विडम्बनाको भी हम नहीं समझ पाते। इसका एक दृष्टान्त देता हूं।

हमारे देशमें आधुनिक शिक्षा-विधिके नामसे जिस वस्तुका उदय हुआ है, उसीके नामपर स्कूल और कालेज कुकुरमुत्तेकी तरह जहां-तहां सर उठाये दीख पड़ते हैं। ये इस ढंगसे बनाये गये हैं कि इनका प्रकाश कालेजी मंडलके बाहर बहुत कम पहुंचता है—सूर्यका प्रकाश चन्द्रमाके प्रकाशमें परिणत होकर जितना विकसित होता है, उससे भी कम। उसके चारों तरफ विदेशी भाषाकी मोटी-मजबूत चहारदीवारी है। मातृभाषाके द्वारा शिक्षा-प्रचारके विषयमें जब विचार करता हूं, तो उस विचारमें साहस बहुत कम पाता हूं। अन्तःपुरिका वधूकी तरह वह भयभीत-सी मालूम होती है। आंगन तक ही उसकी गति है, उसके बाहर जाते ही उसका ठोड़ी तक घूंघट उतर आता है। मातृभाषाका इलाका प्राथमिक शिक्षाके भीतर ही है, वह केवल बालकोंकी शिक्षाके योग्य है—अर्थात् मातृभाषाके सिवा अन्य कोई भाषा सीखनेकी सुविधा ही नहीं, उस विराट जनसंघको विद्याके अधिकारके विषयमें बच्चोंके साथ स्थान दिया गया है। वे किसी तरह भी पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकते, फिर भी हम आंख मीचकर स्वराज्यके सम्बन्धमें यह कल्पना करते हैं कि उन्हें पूर्ण मनुष्यका अधिकार मिलेगा।

ज्ञान-लाभके बँटवारेको लेकर देशके अधिकांश जनसमूहके लिए इतनी बड़ी अनशनकी व्यवस्था और किसी भी नव-जाग्रत देशमें नहीं है;—न जापानमें, न फारसमें, न टर्कीमें और न ईजिप्टमें। मातृभाषा मानो एक अपराध है—ईसाई धर्मशास्त्रोंमें जो आदिम पाप कहलाता है। देशवासियोंके लिए मातृभाषागत शिक्षाके भीतरसे ज्ञानकी सर्वाङ्ग पूर्णताको हमने कल्पनाके बाहर छोड़ रखा है। अंगरेजी होटलवालेकी दूकानको छोड़कर और कहीं भी देशवासियोंके लिए पुष्टिकर भोजन मिल ही नहीं सकता—यह कहना, और अंगरेजी भाषाके सिवा मातृभाषामें ज्ञानकी भलीभाँति प्राप्ति नहीं हो सकती—यह कहना, दोनों एक ही बात है।

इस सम्बन्धमें एक बात याद रखनी चाहिए, वह यह कि आधुनिक समस्त विद्याओंका जापानी भाषामें समावेश करके तब कहीं जापानी विश्वविद्यालय देशकी शिक्षा-व्यवस्थाको सत्य और सम्पूर्ण बना सके हैं। इसका कारण यह है कि शिक्षाके मानी जापानियोंने 'सम्पूर्ण देशकी शिक्षा' समझा है, 'भद्र'नामधारी एक संकीर्ण श्रेणीकी शिक्षाको ही उन्होंने शिक्षा नहीं माना। मुंहसे हम चाहे जो-कुछ कहें, देशके मानी हम 'भद्रसमाजका देश' समझते हैं। सर्वसाधारणको हम 'लो-क्लास' या 'छोटे-आदमी' कहते हैं, यह शब्द ज़मानेसे हमारी नस-नसमें समा गया है। छोटे आदमियोंके लिए सब तरहके पैमाने भी छोटे बने हैं। उन लोगोंने उसे स्वीकार कर लिया है। बड़े पैमानेकी माँग पेश

करने लायक उनमें साहस ही नहीं रह गया। वे भद्र समाजके छायाचर हैं, उनका प्रकाश धुँधला है, किन्तु देशमें उन्हींकी संख्या ज्यादा है, और इसलिए देशका बारह-आना भाग धुँधला है। भद्र-समाज उन्हें स्पष्ट देख ही नहीं सकता, विश्व-समाजकी तो बात ही छोड़ दो।

राष्ट्रीय आन्दोलनकी उन्मत्त दशामें हम मुँहसे चाहे जो कुछ भी क्यों न कहें, देशाभिमानको गला फाड़-फाड़ कर कितना ही क्यों न व्यक्त करें—हमारा देश प्रकाशहीन हो रहा है, और इसीलिए कर्मपथपर देश-सेवामें हमारी इतनी उदासीनता है। जिनको हमने छोटा बना रखा है, मानव स्वभावकी कृपणताके कारण हम उनपर अन्याय ही कर रहे हैं। उनकी दुहाई देकर हमेशा क्षण-क्षणमें हम रुपये इकट्ठे करते हैं,—मगर उनके हिस्सेमें कोरी बातें ही आती हैं, रुपया अन्तमें घूम-फिरकर हमारे ही दलके लोगोंमें समा जाता है। कहनेका मतलब यह है कि देशके जिस अति क्षुद्र अंशमें विद्या-बुद्धि और धन-मान केन्द्रीभूत है, उन फी-सदी पाँच आदमियोंके साथ पचानवे आदमियोंका व्यवधान महासमुद्रसे भी बढ़कर है। हम सब एक ही देशमें रहते हैं, फिर भी हमारा देश एक नहीं है।

बचपनमें अपने यहाँ मैंने एक तरहका चिराग जलते देखा था, जिसे बंगालमें 'सेज' कहते हैं—उसके पात्रमें नीचे पानी और ऊपर तेल भरा रहता था। उसका उजेला कम होता था और धुआँ ज्यादा। हमारे पुराने ज़मानेकी लगभग यही दशा थी।

भद्र-साधारण और अभद्र-साधारणका सम्बन्ध ऐसा ही था। दोनोंका सम्मान समान नहीं, फिर भी दोनोंने एक साथ रहकर एक ही चिरागको जला रखा था। क्योंकि उनका एक ही अखंड आधार था। परन्तु आज तेल एक तरफ चला गया है और पानी दूसरी तरफ। तेलकी ओर दिया जलनेके अन्य उपादान कम हैं, और पानीकी तरफ बिलकुल हैं ही नहीं।

जब उमर बढ़ी, तो घरमें आ गया विदेशसे मिट्टीके तेलका लैम्प; उसमें पूरा तेल भरा है और सारे तेलमें उद्दीपन-शक्ति मौजूद है। उसका उजेला भी तेज है। इसके साथ यूरोपीय सभ्य-समाजकी तुलना की जा सकती है। वहाँ एक ही जातिकी विद्या और शक्ति देशके समस्त लोगोंमें व्याप्त है। वहां ऊपरके खंड और नीचेके खंड हैं, ऊपरके खंडमें बत्ती तेज जला करती है और नीचेके खंडमें जलती ही नहीं। परन्तु वह भेद लगभग आकस्मिक है—सारे तेलमें दीप्ति-शक्ति मौजूद है। उस हिसाबमें ज्योतिका जाति-भेद नहीं है—नीचेका तेल यदि ऊपर उठे, तो उसके उजेलेमें कुछ तारतम्य नहीं होगा। वहाँ नीचेवालोंके लिए ऊपर चढ़ना असाध्य नहीं है—उसकी कोशिश हमेशा ही होती रहती है।

और एक तरहकी बत्ती है—वह कहलाती है बिजली-बत्ती। उसमें तारकी कुंडलीसे प्रकाश निकलता है, उसके सब अंश समान प्रकाशवान हैं। उसमें दीप्त और अदीप्तका भेद नहीं है—यह प्रकाश लगभग सूर्यके प्रकाशके समान है। यूरोपीय समाजमें इस बत्तीके जलानेका उद्योग आज सर्वत्र समान रूपसे नहीं हो रहा—

किन्तु कहीं-कहीं शुरू हो गया है,—इसके यंत्रको पक्का बनानेमें शायद अब भी बहुत-कुछ बनाना-बिगाड़ना होगा ; यंत्रके महाजनोंमें कोई-कोई देवालिया भो हो जा सकते हैं ;—परन्तु पश्चिम महादेशमें इधर लोगोंका काफी झुकाव हो रहा है, इस बातको अब छिपाया नहीं जा सकता। यह है प्रकाशका उद्यम, मनुष्यका अन्तरंग धर्म, इस धर्म-साधनसे सभी मनुष्योंको अव्याहत अधिकार मिलेगा, ऐसा एक प्रयास अब क्रमशः फैलता ही जाता है।

मगर आज, केवल हमारे ही इस अभागे देशमें देखा जाता है कि एक दिन मिट्टीके दियेमें जो बत्ती जल रही थी, उसके लिए भी तेल नहीं जुटता —बाधाएँ आ रही हैं। आज हमारे देशके डिग्री-धारी लोग जब देहातोंके विषयमें कुछ विचार करते भी हैं, तो उनके लिए बहुत ही हलके वजनकी कोई चीज देनेको काफी देना समझते हैं। जब तक हमारा ऐसा मनोभाव रहेगा, तब तक गाँवके लोग हमारे लिए विदेशी ही बने रहेंगे। यहाँ तक कि उनसे भी ज्यादा पराये हो जायँगे। इसका कारण यह है कि हमें स्कूल-कालेजोंसे जितनी विद्या मिलती है, वह विद्या यूरोपीय है। उस विद्याकी सहायतासे यूरोपीयोंको समझना और यूरोपीयोंके सामने अपनेको समझाना हमारे लिए सहज हो गया है। इंग्लैंड, फ्रान्स और जर्मनीकी मनोवृत्ति हमारे लिए सहज और प्रकट-सी है, उनके काव्य नाटक उपन्यास जो-कुछ हम पढ़ते हैं, वे हमारे लिए पहेली-से नहीं मालूम होते ; यहाँ तक कि जो कामना और तपस्या उनकी है, लगभग वही कामना और वही तपस्या हमारी भी होती जा रही है। परन्तु

जो लोग सीतला माई, ओला माई, मनसादेवी, षष्ठीदेवी, कालीजी, भवानीजी, राहु-शनि, भूत-प्रेत, पोथी-पत्तर और पंडा-पुरोहितोंकी छायामें पले हैं, उनसे हम बहुत ज्यादा ऊपर चढ़ गये हों, सो बात नहीं, किन्तु उनसे दूर जरूर हट गये हैं—इतनी दूर कि एक दूसरेकी आवाज तक नहीं सुन पाते। उनका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने योग्य कौतूहल भी हममें नहीं है।

हमारे कालेजोंमें जो इकॉनॉमिक्स या एथनोलॉजी पढ़ते हैं, अपने पासके गाँवके लोगोंका आचार-विचार जाननेके लिए वे यूरोपीय पंडितोंका मुँह ताका करते हैं। अपने पड़ोसियोंको वे 'छोटे-आदमी' समझते हैं, हमारे हृदयमें मनुष्यके प्रति जो कुछ दर्द या सहानुभूति है, उसके द्वारा हमें वे दिखाई ही नहीं देते। पश्चिम महादेशके अनेक प्रकारके "मूवमेन्टों" का इतिहास इन्होंने पढ़ा है,—किन्तु हमारे देशके जनसाधारणमें जो अनेक प्रकारके "मूवमेन्ट" (आन्दोलन) चल रहे हैं, हमारे शिक्षित-साधारणको उसकी कुछ खबर ही नहीं—जाननेके लिए किसी तरहकी उत्सुकता ही नहीं है ; क्योंकि उसके जाननेसे परीक्षामें मार्क नहीं मिलते। देशके साधारण-समाजमें कितने ही सम्प्रदाय हैं, वह हमारे लिए उपेक्षाकी चीज नहीं है ; भद्र-समाजमें नये-नये धर्म-प्रयासोंकी अपेक्षा उनमें अनेक विषयोंमें गम्भीरता है—उन सम्प्रदायोंका जो साहित्य है, वह भी श्रद्धाके साथ रक्षा करने योग्य है—मगर हम जो उन्हें 'छोटे आदमी' समझते हैं!

सभी देशोंमें नृत्य कला-विद्याके अन्तर्गत माना जाता है, और

वह भाव प्रकट करनेका उपाय होनेसे अच्छी दृष्टिसे देखा जाता है। हमारे देशमें भद्र-समाजसे उसका लोप हो गया है, इसलिए हमने समझ रखा है कि वह हमारी अपनी चीज नहीं है। किन्तु फिर भी सर्वसाधारणकी नृत्यकला अनेक रूपमें अब भी मौजूद है—मगर वे 'छोटे आदमी' ठहरे। अतएव उनमें जो कुछ है, वह हमारी चीज नहीं। यहाँ तक कि सुन्दर और सुनिपुण होनेपर भी वह हमारे लिए लज्जाका विषय ही बना रहेगा। धीरे-धीरे सम्भव है यह सब-कुछ लुप्त हो जाय—मगर फिर भी हम उसे देशकी स्मृतिमें नहीं गिनते—क्योंकि वास्तवमें वे हमारे देशमें नहीं हैं।

कविने कहा है—"देसहिमें परदेस भयो अब···" उन्होंने इसी ख्यालसे कहा है कि हम विदेशी शासनमें हैं। उससे भी सत्य और उससे भी गम्भीर-भावसे कहा जा सकता है कि अपने देशमें ही परदेशी हैं—अर्थात् हमारी जातिके अधिकांशोंका देश हमारा देश नहीं है। वह देश हमारे लिए अदृश्य है—अस्पृश्य है। जब देशको हम गला फाड़-फाड़कर माता कहकर पुकारते हैं, तब मुंहसे चाहे जो कुछ कहें, मन-ही-मन समझते हैं कि हमारी वह 'मा' कुछ लाड़ले लड़कोंकी ही मा है। क्या इसी तरह हम जिन्दा रह सकते हैं? सिर्फ वोटका अधिकार मिल जानेसे ही क्या हमें चरम मुक्ति मिल जायगी?

इसी दुःखसे, इसी वेदनासे देशवासियोंकी गहरी उदासीनताके बीचमें, सबकी अनुकूलतासे वंचित होते हुए भी, यहाँ, इन थोड़ेसे ग्रामोंमें हमने प्राण-संचारणके लिए यज्ञ करना शुरू कर दिया है।

जो कुछ काम ही नहीं करते, वे अवज्ञाके साथ पूछ सकते हैं कि 'इससे कितना काम होगा?' मानना ही पड़ेगा कि तेंतीस करोड़ आदमियोंका भार उठानेमें हम असमर्थ हैं, उतनी योग्यता हममें नहीं है। परन्तु सिर्फ इसीलिए हम लज्जित नहीं हो सकते। कार्यक्षेत्रकी परिधिके विषयमें गौरव कर सकेंगे—ऐसी कल्पना भी हमारे मनमें नहीं है, किन्तु भावना यह है कि उसके सत्यपर गौरव कर सकें। कभी भी हमारी साधनामें यह दैन्य न रहे कि गाँववासियोंके लिए बहुत कम ही काफी है। उनके लिए उच्छिष्टकी व्यवस्था करके हम उनकी अश्रद्धा न करें। 'श्रद्धया देयं'—ग्रामोंके लिए हमारे आत्मोत्सर्गका जो नैवेद्य है, उसमें श्रद्धाका कहीं अभाव न रहे—यही हमारी कामना है।

२—कोरियाके युवकका राष्ट्रीय मत

कोरियाका वह युवक साधारण जापानीसे कदमें कुछ ऊँचा है। अंगरेजी अच्छी बोल लेता है, उच्चारणमें जड़ता नहीं है।

मैंने उससे पूछा—"कोरियामें जापानी राष्ट्र-शासन क्या तुम्हें पसन्द नहीं है?"

—"नहीं।"

—"क्यों? जापानी शासनमें क्या तुम्हारे देशमें पहलेसे अच्छी व्यवस्था नहीं हुई?"

—"सो हुई है, मगर हमारे जो कष्ट हैं, उन्हें संक्षेपमें कहनेसे निष्कर्ष यही निकलेगा कि जापानी राजत्व धनिकोंका राजत्व है। कोरिया उसके मुनाफेका एक जरिया है, उसके भोज्यका भंडार है। जरूरी असबाबको लोग साफ-सुथरा रखते हैं, क्योंकि वह उसकी अपनी सम्पत्ति है, उसपर उसकी अहम्मन्यता है। परन्तु मनुष्य तो थाली-लोटा या गाड़ीवानका घोड़ा या ग्वालेकी गाय नहीं है, जो ऊपरी बातोंसे ही सन्तुष्ट हो जायगा।"

—"तुम क्या यह कहना चाहते हो कि जापान यदि कोरियाके साथ मुख्यतः आर्थिक सम्बन्ध न जोड़कर तुम लोगोंसे राज्य-

शासनका सम्बन्ध जोड़ता, यानी वह वैश्यराज न बनकर क्षत्रियराज बनता, तो तुम्हें किसी तरहका पश्चात्ताप न रहता ?"

—"आर्थिक सम्बन्धके ज़रिये विशाल जापानकी सहस्रमुखी भूख हम लोगोंको चूसे जा रही है, इससे तो राज-शासनका बोझ हल्का था, वह सम्बन्ध व्यक्तिगत है, सीमाबद्ध है। राजाकी इच्छा यदि केवल शासनकी ही इच्छा हो, शोषणकी इच्छा न हो, तो उसे मानते हुए भी मामूली तौरसे सारा देश अपनी स्वाधीनता और आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सकता है। परन्तु धनिकोंके शासनसे हमारा समग्र देश दूसरे एक समग्र देशकी चीजोंका बाज़ार बन जाता है। हम लोभकी वस्तु बन गये हैं, उसमें न तो आत्मीयता है और न गौरव ही।"

—"ये जो बातें तुम सोच रहे हो और कह रहे हो, यह जो समष्टिगत भावसे जातीय आत्म-सम्मानके लिए तुम्हारा आग्रह है, क्या उसका कारण यह नहीं है कि जापानके प्रतिष्ठित विद्यालयमें तुम आधुनिक युगकी राष्ट्रीय शिक्षासे दीक्षित हुए हो ?"

युवक दुविधामें पड़कर चुप रहा। मैंने कहा—"मुँह उठाकर देखो, सामने वह चीन देश दिखाई दे रहा है। वहाँ जातीय आत्म-सम्मानका ज्ञान शिक्षाके अभावसे देशके जनसाधारणमें सोया पड़ा है। इसीसे वहाँ व्यक्तिगत क्षमता-प्राप्तिकी दुराशासे कुछ लोभी मनुष्योंमें मार-काट चल रही है। सिर्फ इसी वजहसे देशमें लूट-मार और अत्याचार हो रहे हैं—अभागा देश आज डकैतों और सैनिकोंके हाथमें पड़कर नेस्तनाबूद हो रहा है, देशमें आज खूनकी नदियाँ बह

रही हैं, प्रजा आज असहाय होकर रात-दिन आतंकित बनी रहती है। शिक्षाके ज़ोरसे जहाँ साधारण जनतामें स्वाधिकारका ज्ञान स्पष्ट नहीं हुआ, वहाँ स्वदेशी या विदेशी दुराकांक्षियोंके द्वारा उनपर किये गये अत्याचारोंको कौन रोक सकता है? उस दशामें वे क्षमतालोलुपोंके स्वार्थ-साधनके उपकरणमात्र बने रहते हैं। तुमने अपने देशको धनियोंके स्वार्थकी वस्तु बताकर पश्चात्ताप किया था, किन्तु जो मूढ़ हैं, जो कापुरुष हैं, जो भाग्यपर भरोसा रखकर उसीके मुँहकी ओर ताकते रहते हैं, जो आत्म-कर्तृत्वपर विश्वास नहीं रखते, उनकी वह उपकरण-दशा कभी दूर हो ही नहीं सकती। कोरियाकी अवस्था मुझे नहीं मालूम, परन्तु यदि वहाँ नवयुगकी शिक्षाके प्रभावसे साधारण जनतामें स्वाधिकार-ज्ञानका अंकुर भी उगा हो, तो वह शिक्षा क्या उन्हें जापानसे ही नहीं मिली?"

—"किससे मिली, किससे नहीं—इससे क्या आता-जाता है? शत्रु हो, चाहे मित्र—कोई भी चाहे किसी उपायसे हमें क्यों न जगावे, जागरणका जो धर्म है, वह तो अपना काम करेगा ही।"

—"इस बातको मैं मानता हूँ, मेरा यह तर्क ही नहीं है। विचारनेका विषय तो यह है कि तुम्हारे देशमें शिक्षा-प्रचार इतना हुआ है या नहीं, जिससे देशके अधिकांश लोग स्वाधिकारकी उपलब्धि और यथार्थ रूपमें उसका दावा कर सकें? अगर इतना न हुआ हो, तो वहाँ विदेशियोंके दूर हो जानेपर भी सर्वसाधारणके द्वारा आत्म-शासन नहीं हो सकता,—हो सकता है कुछ खास आदमियोंके उपद्रवसे आत्म-विप्लव। इन थोड़ेसे आदमियोंके

व्यक्तिगत स्वार्थ-बोधको संयत करनेका एकमात्र उपाय है बहुत आदमियोंका समष्टिगत स्वार्थ-बोधका उद्बोधन।"

—"जितनी और जिस ढंगकी शिक्षासे विशाल रूपसे समग्र देश चेत सकता है, उसे हम सम्पूर्ण रूपसे दूसरोंसे पानेकी आशा कैसे कर सकते हैं?"

—"तुम्हारे जैसे शिक्षित पुरुषोंको ही यदि देशमें वैसी शिक्षाका अभाव मालूम होता है, तो उस शिक्षा-प्रचारके साधनको ही सबसे पहला और सबसे मुख्य कर्तव्य समझकर उसे स्वयं अपने हाथमें क्यों नहीं ले लेते? देशको मरनेसे बचानेके लिए केवल भावुकतासे ही काम नहीं चल सकता, उसके लिए ज्ञानकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। मेरे मनमें और-भी एक विचारणीय विषय है। भौगोलिक, ऐतिहासिक या जातीय प्रकृतिगत कारणोंसे कोरिया बहुत दिनोंसे कमज़ोर है। आज जब कि युद्ध करना वैज्ञानिक साधन-साध्य और बहुव्यय-साध्य हो गया है, तो क्या तुम जापानसे अपनी शक्तिसे अलग होकर अपनी ही शक्तिसे अपनी रक्षा कर सकते हो? ठीक-ठीक बताओ?"

—"नहीं कर सकते, यह तो मानना ही पड़ेगा।"

—"यदि नहीं कर सकते, तो इस बातको भी मानना होगा कि कमज़ोर सिर्फ अपने लिए ही अपने आप विपत्ति नहीं लाता, बल्कि औरोंके लिए भी बुला लाता है। दुर्बलताके कुएंपर प्रबल दुराकांक्षा आप ही दूरसे आकृष्ट होकर मड़राती रहती है। सवार सिंहकी पीठपर नहीं चढ़ सकता, घोड़ेको ही लगामसे बाँध सकता है।



पायोनियर्स कम्यूनमें रवीन्द्रनाथ

मान लो, रूस यदि कोरियामें झंडा गाड़ दे, तो वह सिर्फ कोरियाके लिए ही नहीं, जापानके लिए भी विपत्ति है। ऐसी दशामें दूसरे प्रबलको रोकनेके लिए कोरियामें जापानको अपनी ही शक्ति बढ़ानी पड़ेगी। और उस दशामें यह सम्भव नहीं कि किसी दिन जापान बिना पराजयके ही कोरियाके कमज़ोर हाथोंमें कोरियाका भाग्य सौंप देगा। इसमें जापानको सिर्फ मुनाफेका ही लोभ नहीं है, बल्कि जानका भी खयाल है।"

—"आपका प्रश्न यही है न, कि तब कोरिया क्या करेगा? मैं जानता हूं, कि आधुनिक युद्धके योग्य सेना हम नहीं तैयार कर सकते। उसके बाद युद्धके लिए जहाज, हवाई-जहाज और पनडुब्बे तैयार करना, उनका परिचालन करना हमारी कल्पनाके भी बाहरकी बात है, और विदेशी शासनके अधीन रहकर असम्भव है, किन्तु फिर भी हम यह तो हरगिज़ नहीं कह सकते कि हाथ-पैर चलाना बंद करके डूब जाना ही अच्छा है।"

-"यह कहना अच्छा भी नहीं है। हाथ-पैर चलाना बंद नहीं कर सकते, परन्तु किस तरफ जानेसे किनारा मिलेगा, इस बातको अगर न सोचें और बुद्धिसंगत कोई जवाब न दें, तो मुंहसे चाहे जितना ही क्यों न चिल्लावें, भाषान्तरमें उसे 'हाथ-पैर चलाना बंद' ही कहा जायगा।"

—"मैं क्या सोचता हूं, सो कहता हूं। ऐसा एक समय आनेवाला है, जब संसारमें जापानी, चीनी, रूसी, कोरीय आदि अनेक जातियोंमें आर्थिक स्वार्थगत राष्ट्रीय प्रतियोगिता ही सबसे

मुख्य ऐतिहासिक घटना नहीं समझी जायगी। क्यों नहीं समझी जायगी, इसका कारण बताता हूं। जिस देशके मनुष्योंको हम स्वाधीन कहा करते हैं, उनके भी ऐश्वर्य और प्रतापके क्षेत्रमें दो विभाग हैं। एक विभागके कुछ थोड़ेसे आदमी ऐश्वर्यका भोग करते हैं, और दूसरे विभागके असंख्य अभागे उस ऐश्वर्यका भार ढोते हैं। एक विभागके दो-चार आदमी प्रताप-यज्ञकी अग्निशिखा अपनी इच्छासे उद्दीपित करते हैं, और दूसरे विभागके अनेकानेक लोग इच्छा न होते हुए भी अपने हाड़-मांससे उस प्रताप-यज्ञमें इन्धन जुटाते हैं। सारे संसारमें युग-युगमें मनुष्योंके भीतर ऐसे मूलगत विभाग रहे हैं—एक ऊपर, दूसरा नीचे। इतने दिनों तक नीचेके विभागके लोग अपनी निचाईको बराबर मानते आये हैं ; इस बातको वे सोच ही नहीं सके कि यह अवश्य स्वीकार्य नहीं है, इससे इनकार भी किया जा सकता है।"

मैंने कहा—"सोचना शुरू कर दिया है, क्योंकि संसारमें जो युगान्तकारी द्वन्द्व शुरू हुआ है, वह भिन्न-भिन्न महाजातियोंमें ही नहीं, बल्कि मनुष्यके दो ही विभागोंमें है—शासनकर्ता और शासितमें। शोषणकर्ता स्वार्थी और शुष्क होता है। इस विषयमें कोरिया और जापान, प्राच्य और पाश्चात्य—सब एक ही पंक्तिमें हैं। हमारे कष्ट और हमारी दीनता ही हमारी महाशक्ति हैं। उसीने संसार-भरमें हमारा सम्मिलन कराया है, और उसीके बलपर भविष्यपर हमारा अधिकार होगा। किन्तु जो धनिक हैं,

वे किसी भी तरह एक नहीं हो सकते—स्वार्थकी दुर्लंघ्य प्राचीरसे वे अलग-अलग घिरे हुए हैं। हमारे लिए बड़े आश्वासनकी बात यह है कि जो सत्य रूपमें मिल सकते हैं, उन्हींकी जय होती है। यूरोपमें जो महायुद्ध हुआ था, वह धनिकोंका युद्ध था। उस युद्धका बीज आज असंख्य होकर संसार-भरमें फैल गया है। वह बीज मानव-प्रकृतिके अंदर ही है,—स्वार्थ ही विद्वेष-बुद्धिकी जन्मभूमि है। अब तक दुःखी ही दीनता और अज्ञानतासे परस्पर एक दूसरेसे अलग थे; और धनमें जो शक्तिशूल था, वह उनके मर्मस्थलमें चुभा हुआ था। आज दुःख और दीनता ही हमें मिलायेगी, और धन ही धनियोंको विच्छिन्न करायेगा। संसारमें आज राष्ट्रतंत्रकी जो अशान्त लहरें उठ रही हैं, बलवान जातियोंमें जो दुराकांक्षाएँ बढ़ रही हैं, उससे क्या हमें यही नहीं दीख रहा?"

इसके बाद फिर हमें बातचीत करनेका अवकाश नहीं मिला। मैं मन-ही-मन सोचने लगा—यह बात सच है कि असंयत शक्तिका लोभ अपने ही अंदर विष उत्पन्न करके अपने आपको मारता है, परन्तु समर्थ और असमर्थका भेद आज जो एक विशेष रूप धारण करके प्रकट हो रहा है, उसे रक्तपात करके नष्ट कर डालनेसे क्या मानव-प्रकृतिसे भेदकी जड़ नष्ट हो जायगी? ऐसा सुना गया है कि पृथिवीकी समस्त उच्चभूमि तूफानकी झाड़ूसे साफ होकर घिसते-घिसते एक दिन समुद्रमें मिल जायगी, किन्तु क्या उसी दिन पृथिवीके मरनेका समय नहीं आयेगा? समत्व और पंचत्व क्या एक ही वस्तु नहीं है? भेदको नष्ट करके मानव-समाजके सत्यको

नष्ट किया जाता है। भेदके अंदर कल्याणका सम्बन्ध स्थापित करना ही उसकी नित्य साधना है, और भेदके भीतरके अन्यायके साथ ही उसका नित्य संग्राम है। इस साधनासे, इस संग्रामसे ही मनुष्य बड़ा होता है। यूरोप आज जब कि साधनाको छोड़कर संग्रामको ही एकान्त वस्तु बनाना चाहता है, तो उसकी चेष्टा होगी समर्थको विनाश करके असमर्थको मान्य देना। यदि यह अभिलाषा सफल हुई, तो जिस हिंसाकी सहायतासे वह सफल होगी, उस रक्त-बीजको ही जयडंका बजा कर उस सफलताके कंधेपर चढ़ा देगी। फिर केवल रक्तपातका चक्रावर्तन ही रह जायगा। शान्तिकी दुहाई देकर ये लोग युद्ध किया करते हैं और उस युद्धके भयसे ही उस शान्तिको मारते हैं—आजकी शक्तिके विरुद्ध युद्ध करके कलकी जिस शक्तिको जगाते हैं, फिर दूसरे ही दिनमें उसी शक्तिके विरुद्ध युद्धकी तैयारी शुरू कर देते हैं। आखिर चरमशान्ति क्या विश्वव्यापी श्मशानक्षेत्रमें है ?

कोरियाके युवकके साथ मेरी जो बातचीत हुई थी, उसका भाव मात्र यहाँ लिखा गया है। यह हूबहू उसकी प्रतिलिपि नहीं है।

हिन्दी, ८-१०-३१